⊛ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ⊛

श्रीभवपयोनिधिपूतपोताय नमः ।

[illegible] नमः ।

अथ

ज्ञानाख्ये तृतीयषट्के

# ✻ चतुर्दशोऽध्यायः ✻

ॐ यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति ।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

( ऋ० मण्डल १ अध्याय २१ सूक्त १५४ मन्त्र ४ )
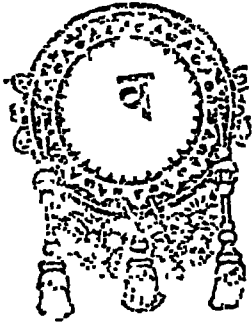
न्दे श्रीकृष्णदेवं सुरनरकभिदं वेदवेदान्तवेद्यं, लोके भक्तिप्रसिद्ध्यै यदुकुलजलधौ प्रादुरासीद-पारः। यस्यासीद्रूपमेव त्रिभुवनतरणे भक्तिमच्च स्वतन्त्रं, शास्त्रं रूपञ्च लोके प्रकटयति मुदा यः स नो भूतिहेतुः॥ १॥

कर्त्ता ज्ञः सकलस्य यो निगमभृः सर्वस्वरूपो हि सन्,
सर्वव्यापि विधारणो विजयते निर्दोषसर्वेष्टदः।
यो लीलाभिरनेकधा वितनुते रूपं निजं केवलं,
सोऽयं वान्ति समास्तु पूर्णगुणभृः कृष्णावतारः पतिः॥ २॥

आज जो मैंने विचार-सागरमें एक डुबकी लगायी तो क्या देखता हूं, कि एक शून्य देशमें आनिकला हूं जहां न पृथ्वी है, न जल है, न अग्नि है, न वायु है, न सूर्य है और न चन्द्र है किसी प्रकारकी रचना कहीं कुछ भी नहीं है, मैं निराधार स्थानमें स्थित हूं। इधर-उधर देखनेलगा, कि किसी ओरसे कोई आता तो उससे इस शून्य देशका वृत्तान्त पूछलेता इतनेमें क्या देखता हूं, कि एक अत्यन्त सुन्दरी कुमारी कन्या सामनेसे प्रकट होती है मैंने उससे इस शून्यदेशका वृत्तान्त पूछा, वह हँसकर बोली, कि थोडा आगे बढकर देखो जहां एक अद्भुत सरिता लहरें लेरही है जिसकी तीन धाराएं हैं जिनमें दो सूखीसाखी हैं और एकमें जल ही नहीं है, जिसमें जल नहीं है उसमें तीन तैराक पार होनेको तैरे हैं, जिनमें दो तो ऊन-

डूबकर रहगये और तीसरेका कुछ पता ही नहीं है, जिसका कुछ पता ही नहीं है उसने बसाये तीन ग्राम जिनमें दो तो उजडे पुजडे पडे हैं और एक बसता ही नहीं, जो बसता ही नहीं उसमें बसाये तीन कुलाल, जिनमें दो तो लंगडे लूले हैं एक को हाथ ही नहीं, जिसे हाथ नहीं है उसने गढडाले तीन पात्र; जिनमें दो तो फूटेफाटे हैं एकको पैंदा ही नहीं है जिसमें पैंदा ही नहीं, उसमें रांधे तीन चांवल जिनमें दो तो उछल कूदकर रहगये एक पकता ही नहीं, जो पकता ही नहीं उसमें नेवते तीन पाहुने, जिनमें दो तो आआकर फिरगये एक आता ही नहीं जो आता ही नहीं उसके हाथकी लगाई हुई एक अद्भुत बेली है जिसे तू फिरकर देख! मैं फिरकर जो देखता हूं तो एक बेली दृष्टिगोचर होरही है पर वह कन्या अन्तर्धान होजाती है।

क्या ही आश्चर्य है जो मैं पूर्ण दृष्टि लगाकर देखता हूं तो इस बेलीके मूलका कहीं भी पता नहीं है पर इसमें तीन लताएं निकलकर अध, ऊर्ध्व और मध्यमें फैलीहुई हैं प्रत्येक लतामें तीन ओरसे तीन-तीन पत्तियां निकलीहुई हैं और प्रत्येक पत्तीके बीच-बीचमें तीन २ पुष्पोंके गुच्छे खिलेहुए हैं फिर थोडी दूर आगे बढकर देखनेसे इन लताओंमें तीन २ फल एक अरुण, एक श्वेत और एक कृष्णवर्णके लगेहुए हैं जैसे मैंने इच्छा की, कि इनमेंसे एक तोडकर खाऊँ, कि इतनेमें आकाशवाणी हुई, कि अरे पथिक! इन फलोंमें हाथ न लगाना देख! जो इनको स्पर्श करता है वह मध्यमें अटका रहजाता है, जो खाता है वह नीचे गिरता चलाजाता है और जो इनको त्यागता है वह ऊपरको चलाजाता है। इतना शब्द सुनते ही मारे भयके मैंने

अपनी आंखें बन्द करलीं जो फिर थोडी देरके पश्चात् आंखें खोलीं तो क्या देखता हूं, कि जहांसे डुबकी लगायी थी वहां ही आखडा हूं।

प्यारे पाठको! अब थोडा स्थिर होकर विचारनेसे ऐसा अनुभव होता है, कि वह कन्या साक्षात् उस महाप्रभुकी परम प्रिय शक्ति-माया थी जिसे प्रकृतिके नामसे पुकारते हैं और उसीकी लगायी हुई उस शून्यदेशमें यह तीन लतावाली वेलि थी जिसे सृष्टिके नामसे पुकारते हैं। जिसका यह संपूर्ण विस्तार फैलाहुआ है। अर्थात् तीन देव, तीन लोक, तीन अवस्था जो कुछ देखरहे हो सब इसीका त्रिगुणात्मक विस्तार है। अब यहां महाभारतकी रणभूमिमें रथपर आरूढ श्रीसच्चिदानन्द आनन्दकन्द अपने परम प्रिय भक्त अर्जुनसे इन ही तीनों गुणोंका भेद वर्णन करेंगे चलो हम तुम भी चलकर सुनें क्या कहते हैं।

श्रीभगवानुवाच—

मू०— परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १

पदच्छेदः— ज्ञानानाम् ( परमात्मतत्वप्रतिपादकानां साधनानाम् ) उत्तमम् ( उत्तमफलदायकम् अथवा उद्गतं तमः तमोगुणः यस्मात् तत् ) परम् ( सर्वोत्कृष्टम् । परमार्थनिष्ठम् ) ज्ञानम् ( संसार-निवर्त्तकं बोधम् ) भूयः ( पुनः ) प्रवक्ष्यामि ( प्रकर्षेण कथयिष्यामि ) यत्, ज्ञात्वा ( वेदान्तवाक्यजन्यया धीवृत्त्या अपरोक्षीकृत्य । स्वरूपत्वेन अनुभूय ) सर्वे ( समस्ताः ) मुनयः ( मननशीलाः यतयः )

इतः ( संसारात् । अस्मात् देहबन्धनादूर्ध्वम् ) पराम् ( श्रेष्ठाम् ) सिद्धिम् ( मोक्षाख्याम् ) गताः ( प्राप्ताः ) ॥ १ ॥

पदार्थः— ( ज्ञानानाम् ) परमार्थतत्वके प्रतिपादन करनेवाले जितने प्रकारके ज्ञान हैं उनमें ( उत्तमम् ) सबोंसे उत्तम फलका देनेवाला ( परम ) सबोंसे श्रेष्ठ ( ज्ञानम ) संसारनिवृत्ति करनेवाले बोधरूप ज्ञानको भूयः फिर मैं एकबार ( प्रवक्ष्यामि ) उत्तम रीतिसे विलग-विलग कर कथन करूंगा ( यत् ज्ञात्वा ) जिसको जानकर ( सर्वे मुनयः ) सब मननशील यतिगण ( इतः ) इस संसारबन्धनसे छूट ( परां सिद्धिम् ) अति श्रेष्ठ सिद्धिको जिसे मोक्ष कहते हैं ( गताः ) प्राप्त होगये हैं ॥ १ ॥

भावार्थः– श्रीसच्चिदानन्द आनन्दकन्द जगत्‌हितकारी गोलोकविहारीने अपने मुखसरोजसे इस गीताके चौथे अध्यायके सातवें श्लोकमें जो यों कहा है, कि, "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति····" अर्थात् हे अर्जुन ! जब-जब इस संसारमें धर्मकी ग्लानि होती है और अधर्म उठना चाहता है अर्थात् पाप प्रवल होकर धर्मको दबालेना चाहता है तब-तब मैं स्वयं अवतार लेकर धर्मका संस्थापन करडालता हूं । सो प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि इस महाभारतके समय ऐसा ही कठोर और घोर अधर्मका प्रवल डंका बजना आरम्भ होगया था, कि सब छोटे बडोंकी बुद्धि नष्ट हो घोर अन्यायसे भरगयी थी न्याय न जाने कहां जाकर छिपगया था क्या ही अन्धेर था, कि बडे-बडे बुद्धिमान् ज्ञानी वीर न्यायशील जिस सभामें सुशोभित होरहे थे

औरोंकी तो कौन चलावे जहां स्वयं भीष्मपितामहके सदृश महान् विचारशील विराजमान थे तहां एक सर्वाश्रयहीन सुशीला अबला द्रौपदीको नंगी कीजानेकी आज्ञा मिले, दुश्शासनसा कठोरहृदय जिसकी चोटी पकड मध्य सभामें घसीटता लावे, सहस्रों विनय करने पर भी कुछ न सुनाजावे, नंगी कर ही दीजावे, किसीकी बुद्धि इसके रोकनेमें काम न करे और किसीका भी साहस न पडे तो विचार करने योग्य है, कि ऐसे समयको कलिका आरम्भ क्यों न कहाजावे ? अवश्य द्वापरकी समाप्ति तो थी ही पर जैसे किसी स्थानमें मलका ढेर दूर हीसें दुर्गन्ध करता है ऐसे इस कलिने अपने आगमनसे वर्षों पूर्व ही वायुमें अपनी दुर्गन्ध फैलाना आरम्भ करदिया । यदि श्याम-सुन्दर स्वयं चीर बनकर धर्मकी नासिकाको उस समय न ढकलेते तो न जाने किस प्रकारकी दुर्दशा शीघ्र ही फैलजाती ? पर भगवान्ने अपने संकल्पानुसार अपना प्रण पूर्ण किया, कि अवतार धारण कर उस समय अधर्मके आक्रमणसें धर्मको बचालिया ।

कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि इस समय रथपर खडेहुए भगवान अधर्मियोंके संहारनेको तो तत्पर हो ही रहे हैं पर इधर एक अर्जुनका मिस लेकर महाभारतका कार्य सम्पादन करना और संपूर्ण संसारको ज्ञान उपदेश कर संसारसे मुक्त करदेना आपहीका काम था । एक अर्जुनके द्वारा दो कार्य सम्पादन कर " एका क्रिया द्व्यर्थ-करी प्रसिद्धा " इस वचनको चरितार्थ करदिया । क्यों न हो आपने अवतार भी तो इसी कारण लिया, कि संसारका कल्याण होवे । अब ऐसे सूक्ष्म समयमें उधर शत्रुओंकी भी पूरी सुधि लेनी और

इश्वर भक्तोंको संसृतितापसे बचाना वाहरे तेरी चतुराई! जो तू एक ही रथपर बैठाहुआ दोनों कार्यों की पूर्ति कररहा है।

अध्याय तेरहवेंके श्लोक २ में भगवान् कहआये हैं, कि " क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम " क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है वही मुझको सम्मत है। तात्पर्य यह है, कि प्राणियोंको क्षेत्र जो अपना शरीर तथा दोनों प्रकारका क्षेत्रज्ञ जो जीव और ईश्वर इनके यथार्थभेदका प्रकाश करनेवाला जो ज्ञान है वही ज्ञान मेरे जानते सब ज्ञानोंमें श्रेष्ठ है।

इतना कहकर भगवान्ने तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकी विलक्षणता नाना प्रकारसे कह सुनायी और उसके साथ-साथ श्लोक ७ से ११ पर्यन्त " अमानित्व " से लेकर " तत्वज्ञानार्थदर्शनम् " पर्यन्त ज्ञानके २० लक्षण कथन कर अन्तमें कहा, कि " एतज्ज्ञानमितिप्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा " अर्थात् जो कुछ मैंने कहा वही यथार्थ ज्ञान है और जो इससे इतर है वह अज्ञान है। तात्पर्य यह है, कि यहांतक अमानित्वादि साधनोंको ज्ञानका स्वरूप कथन किया पर इतने कहनेपर भी भगवान्के हृदयमें सन्तोष न हुआ क्योंकि अर्जुन ऐसे प्रिय भक्तपर दया विशेष है। फिर जैसे परम उदार दानी चाहे कितना भी दान देवे पर उसे सन्तोष नहीं होता इसी प्रकार भगवान् अर्जुनको ज्ञान-दान देतेहुए सन्तुष्ट नहीं होते हैं इसलिये फिर इस चौदहवें अध्यायका प्रारम्भ करतेहुए कहते हैं, कि [ परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ] वह जो

परम श्रेष्ठ सब ज्ञानोंमें उत्तम ज्ञान है जिस ज्ञानसे सर्वोत्तम फल प्राप्त होता है वह मैं फिर तुझसे कहूंगा यहां जो भगवान्‌ने ( भूयः ) अर्थात फिर शब्द उच्चारण किया इसका कारण यह है, कि कोई अज्ञ पुरुष ऐसी शंका न करबैठे, कि जब भगवान्‌ तेरहवें अध्यायके ११ वें श्लोकमें यह कहचुके हैं, कि ज्ञानके इन अमानित्वादि बीसों अंगोंसे जो इतर है सो अज्ञान है तो अब अर्जुनको कौनसा उत्तम ज्ञान उपदेश करेंगे ? इसी शंकाके दूर करनेके तात्पर्यसे भगवान्‌ने (भूयः) शब्दका उच्चारण किया अर्थात् कुछ नवीन नहीं कहेंगे उसी ज्ञानका परिष्कार करेंगे जिसे १३ वें अध्यायमें कहआये हैं । यदि शंका हो, कि उसीको फिर दुबारा कहनेसे क्या लाभ है ? तो उत्तर यह है, कि बहुतसी बातें जो ज्ञानके सम्बन्धमें इस १३वें अध्यायमें कह आये हैं उनके सब अंगोंकी पूर्त्ति नहीं हुई है इसीलिये उन अंगोंकी पूर्त्ति करनेके तात्पर्यसे फिर उसी ज्ञानके तत्वोंको कहेंगे । जैसे १३ वें अध्यायके २६ वें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है, कि " यावत्सञ्जायते किञ्चित्‌....... " अर्थात हे अर्जुन ! जो कुछ स्थावर जंगम पदार्थ उत्पन्न होते हैं सबोंको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात प्रकृति और पुरुषके संयोगसे जानो । यहां प्रकृति और पुरुषको सब वस्तुओंके उत्पन्न होनेका कारण तो बतादिया पर ये दोनों भी जिस परमपुरुषके अधीन होकर कार्य करते हैं उसका बताना रहगया ।

फिर भगवान्‌ने यह कहा, कि " **कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु** " (अ० १३ श्लोक२१) अर्थात् उत्तम वा नीचयोनियोंमें जन्म होनेका कारण इन तीनों गुणोंका ही संग है पर यहां किस गुणमें किस

प्रकारका संग होता है ? और वे गुण उस चैतन्यको किस प्रकार अपनेमें फँसा लेते हैं ? सो पूर्णप्रकार कहना रहगया।

फिर भगवान्ने जो यह कहा, कि " भूतप्रकृतिमोक्षञ्च ये विदुर्यान्ति ते परम् " ( अ० १३ श्लो० ३५ ) अर्थात् भूतोंकी प्रकृतिसे मोक्षको जो जानते हैं वे परम पदको प्राप्त होते हैं सो इन से किस प्रकार मुक्त होना चाहिये ? सो कहना रहगया। फिर जो इस भेद को जानकर मुक्त होजाते हैं उनके क्या लक्षण हैं ? यह भी कहना रहगया।

उक्त सब शेष वार्त्ताओंके पूर्ण करनेके तात्पर्यसे भगवान्ने इस चौदहवें अध्यायके १ श्लोकमें ' भूयः ' शब्दका उच्चारण किया है तथा श्रोताओंकी रुचि बढ़ानेके तात्पर्यसे उस ज्ञानकी स्तुति करतेहुए कहते हैं, कि [ **यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः** ] मैं वह उत्तम ज्ञान, हे अर्जुन ! तुझसे कहूंगा जिसको जानकर पूर्व-कालमें अनेक मुनि, ऋषि, महर्षि जो मननशील थे परम सिद्धि जो मोक्षपद तिसे प्राप्त होगये अर्थात् इस उत्तमज्ञानके अनुष्ठानसे अन्त में इस शरीरको त्यागकर ब्रह्मस्वरूप होगये ॥ १ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें यह दिखलाते हैं, कि इस ज्ञानके साधन करनेवालोंको मोक्षपद अर्थात् भगवत्स्वरूप अवश्य प्राप्त होता है ऐसा नियम है।

मू०— इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

पदच्छेदः— इदम् ( यथोक्तम् । वक्ष्यमाणम् ) ज्ञानम् ( अध्यात्मज्ञानसाधनम् । ज्ञप्तिस्वरूपम् ) उपाश्रित्य ( अनुष्ठाय ) मम, साधर्म्यम् ( सर्वात्मत्वम् । सर्वनियन्तृत्वम् । सर्वभावाधिष्ठातृत्वम् । मद्रूपतां वा ) आगताः ( प्राप्ताः ) सर्गे ( ब्रह्माद्युत्पत्तिकाले ) अपि, न, उपजायन्ते ( उत्पद्यन्ते । जन्मविक्रियां नानुभवन्ति ) प्रलये ( सृष्टिविनाशकाले ) च, न, व्यथन्ति ( व्यथां प्राप्नुवन्ति । चलन्ति ) ॥ २ ॥

पदार्थः— ( इदम् ) यह जो इस अध्यायमें कथन किया जावेगा ( ज्ञानम् ) अध्यात्मज्ञान उसे ( उपाश्रित्य ) अनुष्ठान करके ( मम साधर्म्यम् ) जो मेरे साधर्म्यको अर्थात् मेरे समान रूप गुणको ( आगताः ) प्राप्त होते हैं वे ( सर्गेऽपि ) सृष्टि होनेके समय भी ( न उपजायन्ते ) नहीं जन्म लेते हैं ( च ) और ( प्रलये ) प्रलयकालमें भी ( न व्यथन्ति ) व्यथाको नहीं प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रलयकालकी आगमें नहीं जलते । तात्पर्य यह है, कि इस ज्ञानके अभ्यास करनेपर कभी भी न जन्मते हैं न मरते हैं ॥ २ ॥

भावार्थः— भगवानने जो पूर्वश्लोकमें इस ज्ञानको उत्तम कहा इसका कारण दिखलातेहुए कहते हैं, कि [ इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ] जो मेरे कथनं किये इस ज्ञान का अनुष्ठान करके अर्थात् जिस ज्ञानकी पूर्ति मैं इस अध्यायमें करूँगा

तिस ज्ञानका साधन करके जो प्राणी मेरे साधर्म्यको प्राप्त होगये हैं तात्पर्य यह है, कि जितने गुण मुझमें हैं उन सबोंको प्राप्त करचुके हैं तथा मेरा ही स्वरूप बनगये हैं वे जन्मते मरते नहीं हैं। भगवानके यहां साधर्म्य कहनेका तात्पर्य यह है, कि जैसे वह स्वयं नित्य, निर्विकार, निर्मल, निर्लेप, निर्भय, निरभिमान, निर्मम, निर्गुण, सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी, सर्ववेत्ता, सर्वान्तर्यामी, सर्वमय, सर्वाधिष्ठान, अनादि, अनन्त, कृपासागर, आनन्दसागर और सर्वगुणआगर है ऐसे उसके भक्त भी इन गुणों से सम्पन्न होजाते हैं। प्रमाण श्रुतिः— "ॐ परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै + तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य। स सर्वज्ञः सर्वो भवति तदेष श्लोकः ॥" (प्रश्नो० प्रश्न० ४ श्रु० १०)

अर्थ— यह प्रश्नोपनिषद्की श्रुति जीवात्मा और परमात्माकी एकताको कथन करतीहुई कहती है, कि जो प्राणी उस अच्छाय, अशरीर, अलोहित, अत्यन्त निर्मल, अक्षर ( अविनाशी ) ब्रह्मको ब्रह्मज्ञानद्वारा जानता है वह उस अक्षरब्रह्मको प्राप्त होता है और वही निश्चय करके सोम्य, सर्वज्ञ और सर्व होजाता है उसके लिये यह श्लोक ( मंत्र ) साक्षी है ॥

+ अच्छायम्— तमोवर्जितम् ( शंकरः ) मायाके अन्धकारसे वर्जित ॥

अलोहितम्— लोहितादिसर्वगुणवर्जितम् ( शंकरः ) अर्थात् रज, सत्व, तम आदि गुणसे वर्जित ॥

इसी तात्पर्यको इस श्रुतिके आगेवाली ११ वीं श्रुति अधिक दृढ करती है —

" ॐ विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र । तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति "॥११

( प्र० ४ श्रु० ११ )

अर्थ— जितनी ( प्राणाः ) इन्द्रियां तथा ( भूतानि ) पृथ्वी इत्यादि भूत हैं वे सब अपने-अपने अधिष्ठातृदेव सूर्य इत्यादिके साथ-साथ जिस परब्रह्ममें जाकर प्रतिष्ठित होते हैं उस अक्षरब्रह्मको जो विज्ञानात्मा जिज्ञासु जानता है वह हे सौम्य ! सर्वज्ञ होजाता है और सर्व होजाता है।

इसी कारण भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं, कि जो प्राणी ज्ञानके अभ्यास द्वारा मेरे साधर्म्यको प्राप्त होगये हैं अर्थात् मेरे समान होगये हैं मेरे रूपमें आमिले हैं वे [ **सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च** ] सृष्टिके आरम्भमें भी नहीं उत्पन्न होते हैं और न प्रलयकालमें नष्ट होते हैं नित्य होजानेके कारण उत्पत्ति और विनाशसे रहित होजाते हैं जैसे काकभुसुण्ड इत्यादि ॥ २ ॥

एवंप्रकार भगवानने जो उपर्युक्त दो श्लोकोंमें ज्ञानकी उत्तमता और महत्व दिखलाया है उससे अर्जुनको इस ज्ञानके जाननेकी परम श्रद्धा उत्पन्न होआयी भगवानने भी उसे अधिकारी जान इस ज्ञान का स्वरूप वर्णन करना आरंभ करदिया और कहा, हे अर्जुन ! प्रथम तो यह सुन, कि मैं किस प्रकार इस सृष्टिको उत्पन्न करता हूं ?

मू०— ममयोनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥ ३ ॥

पदच्छेदः— [ हे ] भारत ! ( भरतकुलोत्पन्न अर्जुन ) ! मम ( मदधिष्ठिता नतु स्वतन्त्रा ) योनिः ( माया । शुद्धचिन्मात्रस्य प्रवेशस्थानम् । गर्भाधानस्थानं वा ) महद्ब्रह्म ( महत्तत्वस्य प्रथम-कार्यस्य वृद्धिहेतुरूपाद्बृंहत्वाद्ब्रह्म अव्याकृतम् । त्रिगुणात्मिका माया ) अहम् ( चिदात्मा । शक्तिमानीश्वरः ) गर्भम् ( भूतभौतिकविस्तार-हेतुम् हिरण्यगर्भस्य जन्मनो बीजं चिदाभासं स्वप्रतिविम्बस्वरूपं तथा बहुस्यां प्रजायेय इतीक्षणरूपं संकल्पम् ) दधामि ( प्रक्षिपामि । धार-यामि । अर्थात् विद्याकामकर्मोपाधिस्वरूपानुविधायिनं क्षेत्रज्ञं क्षेत्रेण संयो-जयामि ) ततः ( तस्मात् क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् ) सर्वभूतानाम् ( स्थावरजंगमानां हिरण्यगर्भादिस्तम्बपर्यन्तानाम् ) सम्भवः ( उत्पत्तिः ) भवति ॥ ३ ॥

पदार्थः— ( भारत ! ) हे भरतकुलमें उत्पन्न परम बुद्धिस्व-रूप अर्जुन ! ( मम ) मेरे अधीन रहनेवाली मेरी जो ( महद्ब्रह्म ) महत्तत्वरूप माया मेरी चिन्मात्रसत्ताके प्रवेश करनेका ( योनिः ) गर्भस्थान है ( तस्मिन् ) उस मूलप्रकृतिरूप योनिमें ( अहम् ) मैं सर्वेश्वर ( गर्भम् ) गर्भको अर्थात् हिरण्यगर्भके जन्मनेका बीज जो चिदाभास तिसे ( दधामि ) डालदेता हूं अर्थात् क्षेत्रज्ञ जो पुरुष उसे क्षेत्र जो प्रकृति तिसके साथ जोडदेता हूं ( ततः ) तिस प्रकृतिपुरुषके संयोगसे ( सर्वभूतानाम् ) ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब पर्यन्त

जितने स्थावर जंगम हैं सबोंकी ( संभवः ) उत्पत्ति ( भवति ) होती है । अर्थात् जब मैं सृष्टिकी इच्छा करता हूं तब यह सृष्टि उत्पन्न होजाती है ॥ ३ ॥

**भावार्थः—** अब भगवान् यहांसे अर्जुनके तथा सर्वसाधारण प्राणियोंके कल्याण निमित्त वह उत्तमज्ञान वर्णन करेंगे जिसके द्वारा इस सृष्टिके आरंभसे प्रलय पर्यन्त जितनी मुख्य वार्त्ताओंके जाननेकी आवश्यकता है सबकीसब ठीक-ठीक पूर्णरीतिसे जानी जावेंगी और प्राणी पूर्ण ज्ञानी होजावेगा । कैसे यह सृष्टि बनती है और बिन-शती है ? तिसका पूर्ण परिचय होजावेगा। इसी तात्पर्यसे भगवान् कहते हैं, कि [ **मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्** ] महद्ब्रह्म जो साक्षात् त्रिगुणात्मिका माया वही गर्भाधानका स्थान है उस माया अर्थात् मूलप्रकृतिमें मैं गर्भको डालता हूं अर्थात् सृष्टिके रच-नेका जो प्रथम बीज अपना प्रतिबिम्ब चिदाभास तिसको प्रवेश करडालता हूं तात्पर्य यह है, कि क्षेत्रके साथ क्षेत्रज्ञका संयोग करडालता हूं ।

प्यारे पाठको ! यह विषय ऐसा सरल नहीं है, कि सुगमता से समझमें आजावे प्रथम तो इसके समझनेकेलिये गुरु और शास्त्र दोनोंकी आवश्यकता है केवल दो चार पत्रोंपर लिखडालनेसे सम-झना कठिन है इसके एक २ शब्द ऐसे गूढ हैं, कि इनपर विलग-विलग व्याख्यान करनेकी आवश्यकता है इसलिये जहांतक मेरी अल्प-बुद्धिका इस विषयमें समावेश है पाठकोंके कल्याणार्थ यहां इस गूढ तत्त्वको प्रकाश करता हूं इतनेपर भी जिसकी समझ काम न करे वह अपने श्रीगुरुदयालुके समीप इस ग्रन्थको लेजाकर समझलेवें ।

इस श्लोकमें जो भगवानने गर्भाधानसे उदाहरण देकर अत्यन्त गूढ विषयका कथन किया है अर्थात् सृष्टि कैसे बनती है ? इस विश्वका आरम्भ कैसे होता है ? उसे वर्णन करते हैं । तहां महद्ब्रह्म को जो योनि अर्थात् गर्भ धारण करनेका स्थान कथन किया सो महद्ब्रह्म क्या है ? यहां वर्णन कियाजाता है ।

महत् शब्दका अर्थ है बहुत बडा अर्थात् जो सबसे बडा हो उसे महत् कहते हैं फिर यह तो सब जानसकते हैं, कि सबसे बडा वही कहाजावेगा जो सबसे पहले हो उसीको प्रधानके नामसे पुकारते हैं वैदिककोष निघण्टुके तीसरे अध्यायमें जहां *महत् शब्दके २५ नामोंकी गणना है तहां प्रधान शब्द भी लिखा है । इसलिये प्रकृति को महान् कहसकते हैं । फिर सांख्यशास्त्रने अपने प्रथम अध्याय के ६१ वें सूत्रमें " प्रकृतेर्महान " लिखकर यह सिद्ध किया है, कि प्रकृतिसे महान् जो महत्तत्त्व जिसे बुद्धिके नामसे भी पुकारते हैं उसे महान् कहते हैं ।

---

* महत् शब्दके वेदमें इतने पर्याय शब्द आते हैं सो वैदिक कोष निघंटुके अ० ३ से निकालकर लिखेजाते हैं— १. महत्, २. ब्राध्नः, ३. बृहत्, ४. उक्षितः, ५. तवसः, ६. तविषः, ७. महिषः, ८. अभ्वः, ९. ऋभुक्षाः, १०. उक्षा, ११. विहायाः, १२. यह्वः, १३. ववक्षिथ, १४. विवक्षसे, १५. अम्भृणः, १६. माहिनः, १७. गभीरः, १८. ककुहः, १९. रभसः, २०. बाधतः २१. विरप्शी, २२. अद्भुतम्, २३. वहिष्ठः, २४. बर्हिषत् ॥

तात्पर्य यहं है, कि वैदिक अर्थसे तो प्रकृति ही को महान् कहते हैं और सांख्यने भी प्रकृतिसे जो निकला सबसे पहला 'महत्तत्त्व उसे महान् कहा है इसीको बुद्धिके नामसे भी पुकारते हैं। ये दोनों अर्थ महत् शब्दके हुए। अतएव भगवान्ने महत् शब्दके साथ ब्रह्म शब्द की योजना करके ' महद्ब्रह्म ' ऐसा प्रयोग किया। तहां बृह्मशब्द ' बृंहि वृद्धौ ' धातुसे बना हैं जिसका अर्थ है ' वृंहति वर्द्धते वा ' जो बढे अर्थात् विस्तारको प्राप्त होवे। इस कारण महत्के साथ ब्रह्म शब्द के जोडदेनेसे यह अर्थ होता है, कि जो सबसे प्रथम महान् होकर आगे विस्तारको प्राप्त होवे। सो सबोंका मूल जो प्रकृति है वह स्वयं महान् होकर विस्तारको प्राप्त होती है। वेदान्ती उस प्रकृतिको मायाके नामसे पुकारते हैं। सो भगवान्के कहने का भी यही तात्पर्य है, कि जो मेरी त्रिगुणात्मिका शक्ति माया है वही योनि है जहांसे सब उत्पन्न होते हैं पर योनि जो उत्पन्न करने वाली शक्ति है उसमें जब तक बीज न डालजावे तो वह शक्ति निरर्थक पडी रहेगी। जैसे पृथ्वीमें उपजानेवाली शक्ति तो तयार है पर जब तक बीज न डालाजावे तब तक वह कुछ भी नहीं उपजा सकती। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि इस महद्ब्रह्मरूप शक्तिमें मैं बीजको डालकर मानो गर्भाधान करता हूं अर्थात् इस मायामें अपने बिम्बरूप चित् संवितको जोडडालता हूं। अब यह चित्सम्वित् क्या है? सो जानना चाहिये। तहां चित् कहिये चेतना अर्थात् ज्ञानको जिस के द्वारा सबकुछ जानाजाय उस शक्तिका नाम चित है। दुर्गादासने अपने कोषमें ' ज्ञानमिहज्ञागरणम् ' ऐसा चित् शब्दका अर्थ किया है

अर्थात् सोनेसे जागपडनेकी जो अवस्था है उस अवस्थासे जब तक फिर सोजावे तबतकके ज्ञानका नाम चित् है । यह वह शक्ति है जिस के द्वारा प्राणी सोनेसे जागपडता है । इसी चितसे संवेदना अर्थात् अपने स्वरूपका आप अनुभव करता है । ये चित और संवित् दोनों शक्तियां उस महाप्रभुमें ही हैं । तहां श्रुतियां प्रमाण हैं जैसे " सच्चिदानन्दोऽयं ब्रह्म " यह ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप है । तहां सच्चिदानन्द शब्दका अर्थ दुर्गादासने अपने कोषमें यों किया है, कि " सँश्चासौ चिच्चासौ आनन्दश्चेति त्रिपदे कर्मधारयः " अर्थात् यह ब्रह्म नित्य, ज्ञान और सुखस्वरूप है । यहां सत्का अर्थ नित्य और चित्का अर्थ ज्ञान तथा आनन्दका अर्थ सुख किया है । अब यहांसे चित् निकाललो और श्रीधरस्वामीकी जो स्तुति " वागीशा यस्य वदने लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि । यस्यास्ति हृदये संवित् तन्नृसिंहमहं भजे " यहां भगवान्के हृदयमें जो संवित् है उसे निकाललो फिर इन दोनोंको एकसाथ जोडदो तो " चित्संवित् " ऐसा शब्द होता है जिसका अर्थ होता है, कि चित्तमें जो सम्वेदना फुरे अथवा जिस शक्तिमें चित् और संवित् दोनों एकत्र हों उसे कहिये " चित्संवित् " यही चित्संवित् जो भगवान्का उत्तमोत्तम गुण है सो ही महद्ब्रह्मस्वरूप योनिमें गर्भाधानके लिये बीजरूप है अर्थात् महद्ब्रह्मरूप पृथ्वीमें जो चित्संवित्रूप बीजका डालना है सो ही सृष्टिका आरम्भ वा संकल्प है । तात्पर्य यह है, कि प्रलयकालसे सहस्र चतुर्युगी पर्यन्त सोयीहुई जो भगवान्की ईक्षणस्वरूप शक्ति है वह जिस समय जागपडती है उसी समय सृष्टिका आरम्भ होजाता है । जैसे

मनुष्य सोनेसे जब जागपडता है तब उसके शरीरमें व्यापक जो परमात्माकी चित्संवित्‌रूप शक्ति है वह फुरना आरम्भ होती है आंखें खुलते ही पहले उसे अपने स्वरूपका चेत होता है फिर वह इधर-उधर देखने लगता है तब उसे अपने हल और मूसलकी ओर जो घरमें रखे रहते हैं दृष्टि पड़ती है फिर उसे उस हलका कार्य स्मरण होआता है पश्चात अपने कांधेपर हल ले अपने क्षेत्रमें बीज डालने जाता है।

इसी प्रकार वह परमात्मतत्त्व जो प्रलयकालमें सुप्त और सृष्टि-कालमें सदा जगा करता है एकाएक जब सोनेसे जगपडा और बोला " अहं ब्रह्मास्मि " अर्थात् जागते ही अपने स्वरूपको सँभाला फिर अपने आसपासकी अपनी परमशक्ति मायाकी ओर देखा यहां ही जो एवम्प्रकार ईक्षण हुआ उसे ही बीज कहते हैं। क्योंकि इसीको चित्संवित्‌का फुरना भी कहते हैं। यथा प्रमाण श्रुतिः—"तदैक्षत एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय " अर्थात मैं एक हूं बहुत होकर उत्पन्न होजाऊं। फिर इसी संकल्परूप बीजको अपने आसपासवाली शक्तिमें डालदिया यही गर्भाधान करना हुआ। तहांसे इस ईक्षण और संकल्परूप हल मूसलको ले अपने चित्संवित रूप बीजको हाथ में लियेहुए महद्‌ब्रह्म जो प्रकृतिरूप क्षेत्र उसमें बोदिया वपन करनेके साथ ही आकाश, वायु आदि पांचों भूत दशों इन्द्रियां चार अन्तः-करण इत्यादि क्षेत्र फलना आरम्भ हुए अर्थात सारी सृष्टि बनकरे बढ़चली बढते-बढते यह बेलि दशों दिशाओंमें फैलगयी।

इसी इतने तात्पर्यको दिखलातेहुए भगवान् कहते हैं, कि मेरी माया जो महद्ब्रह्म है उसमें मैं गर्भाधान करता हूं अर्थात् चित्संवित्-रूप बीजको डालता हूं एवम्प्रकार गर्भाधान करनेसे [ **संभवः सर्व-भूतानां ततो भवति भारत !** ] ब्रह्मासे लेकर एक पिपीलिका पर्यन्त तथा सुमेरुसे लेकर एक तृण पर्यन्त सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है । तहां मनु कहते हैं— " मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृ-क्षया । आकाशं जायते तस्मात्............" अर्थात् उस महाप्रभुने जो सृष्टिके बनानेकी इच्छासे मैं सृष्टि करूं ऐसा जो संकल्प किया उससे सबसे पहले आकाश उत्पन्न हुआ एवम्प्रकार आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथ्वी तककी उत्पत्ति हुई ।

तहां श्रुति भी कहती है, कि " ॐ स ईक्षत लोकाननुसृजा इति " " स इमांल्लोकानसृजत " ( ऐतरेय० अ० १ श्रु० १, २ )

अर्थ— उस महाप्रभुने ईक्षण किया, कि मैं सब लोकोंको रचूं ऐसे ईक्षण करते हुए उसने इन सब लोकोंको रचदिया । यही ईक्षण करना मानों प्रकृतिमें बीज डालना हुआ जिस बीजके पडते ही सब भूतोंकी उत्पत्ति होगयी ।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि जब मैं अपनी मायाको आज्ञा देता हूं तब ही वह सृष्टि करना आरम्भ करती है अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ये दोनों स्वाधीन नहीं हैं मेरे अधीन हैं इनका स्वयं कुछ भी वश नहीं है, कि ये कुछ करें जब मैं इनको अपनी सत्ता प्रदान करता हूं अर्थात् इनको आज्ञा देता हूं तब इनके संयोगसे सारी सृष्टि बनजाती है ।

सो यह भगवानकी आज्ञा सदासे प्रकृतिके ऊपर चली आरही है कैसी भी घनघोर घटा आकाशमें क्यों न उमडआयी हो पर बिना उस महाप्रभुकी आज्ञाके एक बूँद जल भी पृथ्वीपर नहीं छोडसकती उसीकी आज्ञामें सूर्य, चन्द्र, तारागण, सब लोकलोकान्तर सदा आकाशमें चक्कर लगारहे हैं ॥ ३ ॥

अब भगवान इसी विषयको और अधिक स्पष्ट करनेके तात्पर्यसे अगला श्लोक कहते हैं—

**मू०— सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्तयः संभवन्ति याः ।**
**तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥**

**पदच्छेदः—** कौन्तेय ! ( हे कुन्तीपुत्रार्जुन ! ) सर्वयोनिषु ( देवपितृमनुष्यपशुपक्षिकीटपतंगादिषु सर्वासु योनिषु ) याः, मूर्त्तयः ( सुरनरतिर्यक्स्थावरात्मकानि यानि जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जादिभेदेन विविधशरीराणि) संभवन्ति ( उत्पद्यन्ते) तासाम्, ब्रह्ममहत् ( प्रकृतिः ) योनिः (मातृस्थानीया ) अहम् (वासुदेवः ) बीजप्रदः ( गर्भाधानकर्त्ता ) पिता ॥ ४ ॥

**पदार्थः—** (कौन्तेय !) हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! (सर्वयोनिषु ) देव, पितर, मनुष्य इत्यादि सब योनियोंमें ( याः, मूर्त्तयः ) जो भिन्न-भिन्न मूर्तियां ( संभवन्ति ) उत्पन्न होती हैं ( तासाम् ) उनकी ( योनिः ) योनि अर्थात् मातृस्थान यह ( ब्रह्ममहत् ) मेरी प्रकृति ही है और ( अहम् ) मैं वासुदेव ( बीजप्रदः ) बीजका डालनेवाला ( पिता ) उनका पिता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थः— पहले जो भगवान यों कहचुके हैं, कि मैं सृष्टि-कालमें अपनी प्रकृतिमें अपना चित्संवित्‌रूप बीज डालता हूं उससे सारी सृष्टि उत्पन्न होती है यह इतना भगवानका कहना तो सम्पूर्ण विराट्‌के विषय हुआ अर्थात् समष्टि-सृष्टिकी एक मूर्ति बनकर विराट् वा विश्वके नामसे पुकारी जाती है उस सारी सृष्टिके विषय भगवान्‌ने एक सिद्धान्तवाले इस तात्पर्यसे श्रवण करादिया, कि बहुतेरे प्राणी जो यों समझगये होंगे वा समझरहे हैं, कि केवल क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ जो प्रकृतिपुरुषका संयोग है उसीसे सृष्टिका बनना आरम्भ होजाता है पर ऐसा नहीं इन दोनोंके संयोगमें भगवान अपना बिम्ब डालते हैं तब इन दोनोंमें प्रथम विराट् प्रकट होनेकी शक्ति प्रवेश करती है फिर संकल्पमात्र ही से एक बार पल मारते सारा ब्रह्माण्ड उदय होजाता है। इस सिद्धान्तको भगवानने उपर्युक्त चौथे श्लोक में कहा अब इस सृष्टिके अन्तर्गत जो भिन्न-भिन्न देव, पितर इत्यादि की मूर्तियां बनती हैं उनके बिलग-बिलग स्वरूपोंके बननेका बीज भी भगवान् वासुदेव ही है इस तात्पर्यको जनातेहुए कहते हैं, कि [ सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्तयः सम्भवन्ति याः ] हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! सुन ! ये जो इस ब्रह्माण्डमें देव, पितर, गन्धर्व, किन्नर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता, बेलि, मंजर, फूल, फल, तथा नाना प्रकारके तृणोंको तू देखता है अर्थात ये जितनी मूर्तियां इस विश्वमें प्रकट होती चलीआती हैं जिनकी ओर दृष्टि करनेसे बुद्धिमान परम सुख और आनन्द लाभ करतेहुए कर्त्ताकी शक्तिको धन्यवाद देते हैं, कि जिसके चित्संवित्‌रूप भण्डारमें न

जाने कितने प्रकारकी मूर्तियां भरीहुई हैं जिन मूर्तियोंका भेद ब्रह्माको भी ज्ञात नहीं है।

देखो! किसी एक रचनाको संमुख रखलो फिर बिचारो, कि इसमें कितने प्रकारकी मूर्तियां बनीहुई हैं देवताओंमें जो ३३ कोटि और इधर मृत्युलोकमें जो ८४ लत्त योनियां तथा अन्य भिन्न-भिन्न लोकोंमें जो नाना प्रकारकी योनियां हैं इनकी मूर्तियोंका कहीं भी अन्त नहीं है। एक पत्तीकी ओर आंख उठाकर देखो! वह मयूर जो तुम्हारे सामने नृत्य कररहा है कैसा रूपवाला है? उसकी मूर्ति कैसी सुन्दर है? मस्तक पर तीन कलंगियां लगीहुई हैं मानों प्रकृति उसे रचकर उसके मस्तक होकर अपनी तीन अँगुलियां निकाल बुद्धिमानोंको सूचना देरही है, कि यह तीन गुणोंके मेलसे उस ब्रह्मबीजको लेकर मैंने सारी सृष्टि बनाली है। फिर देखो बुलबुल चहक-चहक कर शोर मचाता हुआ इस प्रकृतिरूप माता चित्संवित् रूप पिताका गुणगान करता फिरता है जिसने उसका स्वरूप ऐसा सुन्दर बनाकर कैसी मधुरताके साथ चहकनेकी शक्ति प्रदानकी है। एवम्प्रकार चातक, कोकिल, कपोत, कमेरी इत्यादि पत्तीगण इस बुलबुलके कथनका ( Second ) अनुवाद कररहे हैं। किसीने कहा है, कि " सांझसवेरे चिडियां मिलकर चूँ चूँ चूँ चूँ करती हैं। चूँ चूँ चूँ चूँ समझो तो सब जिक्रे * बेचूँ करती हैं " अर्थ स्पष्ट है।

कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि एक पत्ती ही में इतने प्रकारकी मूर्तियां हैं; कि इनका पता आजतक बुद्धिमानोंको कुछ भी न लगसका।

* बेचूँ— फारसी भाषामें भगवान्को कहते हैं।

इसी प्रकार गुलाब, जुही, चमेली, मालतीरूप मंजरी इत्यादि पुष्पोंकी मूर्तियोंकी ओर अवलोकन करो, कि जिनमें हरे, पीले, नीले, लाल इत्यादि रंगोंसे विचित्र प्रकारकी चित्रकारियां बनीहुई दीख-पडती हैं इन पुष्पोंकी रचनाका भी कहीं अन्त नहीं है। कहां तक कहूं ग्रन्थविस्तारे होनेके भयसे संक्षिप्त कर कहता हूं, कि मूर्तियोंका कहीं भी अन्त नहीं है फिर एक-एक मूर्तिमें ऐसी सुन्दरता है, कि जिसे देख बुद्धिमानोंका चित्त क्षुब्ध होजाता है और वाचाशक्ति मूक होजाती है।

इनही मूर्तियोंके विषय भगवान् कहते हैं, कि जितनी मूर्तियां देवताओंसे लेकर कीट पतंग पर्यन्त तथा कल्पवृक्षसे लेकर तृण पर्यन्त जो नाना प्रकारकी योनियोंमें बनीहुई-हैं [ **तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रद: पिता** ] तिन सबोंकी योनि अर्थात् उत्पन्न होनेका स्थान जो मातृस्थान सो यह मेरी त्रिगुणात्मिका माया है जिसे ब्रह्ममहत्के नामसे पुकारते हैं और मैं साक्षात् पूर्णपरब्रह्म जग-दीश्वर इस योनिमें बीजका डालनेवाला पिता हूं।

यहां पिता शब्दके प्रयोग करनेका यही तात्पर्य है, कि जैसे किसी स्त्रीमें जब पिता बीज डालता है तब उससे पिताके स्वरूपानु-कूल ही मूर्ति उत्पन्न होती है अर्थात् मनुष्यसे मनुष्य, गन्धर्वसे गन्धर्व और पशुसे पशु ही उत्पन्न होता है ऐसा नहीं होसकता, कि पशु से मनुष्य और मनुष्यसे पशु उत्पन्न होवे। तात्पर्य यह है, कि पिताका आकार प्रधान रहता है सो एक-एक मूर्तिमें जो स्वरूप अर्थात् आकार

है उस आकारका कारण वह महाप्रभु स्वयं है प्रकृतिमें आकार बनाने की शक्ति नहीं है वरु बीजानुकूल बनीबनाई मूर्तिके आकारको केवल फोडकर निकालने तथा वृद्धि करनेकी शक्तिमात्र प्रकृतिमें है। इसलिये जितने आकार दीखपडते हैं सब उसी ब्रह्मरूप पिता के हैं।

इसी कारण श्रीश्यामसुन्दर अर्जुनसे कहरहे हैं, कि इन मूर्तियों का बीजप्रद पिता मैं ही हूं। प्रमाण श्रु०—"ॐ कृष्णं त एम रुशतः पुरोभाश्चरिष्ण्वर्चिर्वपुषामिदेकम्" (ऋ० मण्डल ४ अ० १ सू० ७ मं०६)

अर्थ—हे भगवन्! हमलोग आपके कृष्णस्वरूपकी शरण प्राप्त हों, कैसा वह स्वरूप है? जिसका परमप्रकाशरूप तेज सर्वत्र 'पुरोभाः' स्वरूपोंके आगे शोभायमान होताहुआ जो "चरिष्णु" धीरे २ सर्वत्र ब्रह्मासे लेकर कीट पर्यन्त आगे बढनेवाला रूपवानोंके रूपमें रूपका एक विशेष कारण है। फिर दूसरा मंत्र सुनो! "ॐ रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"

(ऋ० मण्डल ६ अ० ४ सू० ४७ मं० १८)

अर्थ— वह इन्द्र जो परमेश्वर अपनी माया करके "पुरुरूप ईयते" बहुतसी मूर्तियोंको धारण करता है ऐसे धारण करताहुआ वह महाप्रभु "रूपंरूपम्" इस संसारमें जितने रूप हैं उनमें एक-एक रूपके प्रति अपने चित्संवितूको प्रवेश कर उसी-उसी रूपके अनुसार बनगया अर्थात् पंचभूतोंमें अपने रूपोंको डाल दिया इसलिये मानो वह स्वयं सब रूप बनगया। किस कार्यके लिये बना?

तो कहते हैं, कि अपने रूपको सर्वत्र " प्रतिचक्षणाय " अपने भक्तजनोंसे गान करवानेके लिये जिससे उन भक्तोंका उद्धार होवे ।

अब सामवेद भी मायाको माता तथा स्वयं उस महाप्रभुको पिताके समान सृष्टिको उत्पन्न करनेवाला जानकर यों स्तुति करता है— " ॐ कृष्णां यदेनीमभिवर्चसाभूज्जनयन् योषां बृहतः पितुर्ज्जाम् । ऊर्ध्वं भानुꣳ सूर्यस्य स्तभायन्दिवो वसुभिररतिर्विभाति "

( सामवेद उत्तरा० अ० १५ खं० २ सू० १ मं० ६ )

अर्थ— ( वर्चसा ) हे भगवन् ! आप अपने इस सुन्दर-स्वरूपसे ( एनीं कृष्णाम् ) यह जो प्रलयकालकी रात्रिमें ( अभि-भूत् ) प्रलयके समय जो प्रवेश कर प्रसुप्त होजाते हो सो फिर सृष्टिके समय अपने अंगसे "योषां जनयन् " अपनी योषा जो माया उसे उत्पन्न करतेहुए प्रकट होते हो सो माया कैसी है ? " बृहतः पितुर्ज्जाम् " वृद्धपितामह ब्रह्माको सबसे पहले उत्पन्न करनेवाली है तत्पश्चात् हे भगवन ! " ऊर्ध्वंभानुस्तभायन् " अत्यन्त ऊँचाई के ऊपर आकाशमें सूर्यकी मूर्ति स्थिर करतेहुए "सूर्यस्य दिवो वसुभिः" इस सूर्यकी प्रकाशमान किरणोंके साथ " विभाति " आप स्वयं सुशोभित होते हो पर फिर भी आप कैसे हो, कि सब रूपोंमें रूप बनकर निवास करतेहुए " अरतिः " किसीमें रति नहीं रखते अर्थात् सबमें निवास करतेहुए भी आप निर्लेप हो ॥ ४ ॥

अब भगवान् इस पांचवें श्लोकसे १६ वें श्लोक पर्यन्त इस अपनी त्रिगुणात्मिका माया अर्थात् सृष्टिकी जो योनि ( माता ) है

तिसके तीनों गुणोंके पूर्ण वृत्तान्तका वर्णन करेंगे और दिखलावेंगे, कि इन गुणोंका संग कैसे होता है ? और किस गुणके संगसे क्या-क्या हानि और लाभ होते हैं तथा ये तीनों गुण प्राणियोंको कैसे फांस लेते हैं ? ।

मू०— सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

पदार्थः— महाबाहो ! ( महान्तौ बाहू यस्य तत्सम्बोधने हे महाबाहो ) +सत्वम् ( प्रकृतेर्गुणानां मध्ये प्रसादहर्षप्रीत्यसन्देह-धृतिस्मृतीत्यादयः सुखजनकगुणः ) रजः (गुणानां मध्ये कामक्रोध-लोभमानदर्पादिदुःखजनकगुणः ) तमः ( प्रमादालस्यशोकमोहादि-जनकगुणः ) इति, प्रकृतिसंभवाः ( प्रकृतितः सम्भव उद्भवो येषां ते । त्रयाणां गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिर्माया भगवतस्तस्याः सकाशात् परस्परांगांगिभावेन परिणताः ) गुणाः, अव्ययम् ( अविकारिणम् ) देहिनम् ( देहवन्तम् । जीवम् । साधिष्ठानं चिदाभासम् ) देहे ( प्रकृतिकार्ये शरीरेन्द्रियसंघाते ) निबध्नन्ति ( निर्विकारमेव सन्तं विकारवद्दर्शयन स्वकार्यैः सुखदुःखमोहादिभिः संयोजयन्ति) ॥ ५ ॥

पदार्थः— ( महाबाहो ! ) हे जानुतक विशालभुजावाला अर्जुन ! ( सत्वम ) सत्वगुण प्रकृतिके गुणोंमें जो उत्तम गुण है

+ मोक्षधर्म ग्रन्थमें प्रमाद, हर्ष, प्रीति, असन्देह, धृति और स्मृति ये सत्व गुणके षट्धर्म हैं ।

फिर ( रजः ) रजोगुण जो उसी प्रकृतिका मध्यम गुण है तथा ( तमः ) तमोगुण जो उसीका अधमगुण है ( इति ) ये तीनों जो ( प्रकृतिसम्भवाः ) प्रकृतिसे उत्पन्न गुण हैं वे ( अव्ययम ) इस अविनाशी तथा अविकारी ( देहिनम् ) आत्मसत्ताको ( देहे ) इस शरीरमें ( निबध्नन्ति ) बांधदेते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः— अब सर्वगुणनिधान परमसुजान भगवान कृष्णचन्द्र यहांसे गुणोंका वर्णन आरम्भ करते हुए कहते हैं, कि [ **सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः** ] सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ये तीनों गुण प्रकृतिसे उत्पन्न हैं अर्थात् मेरी दुरत्यया माहेश्वरी मायासे ही ये तीनों गुण उत्पन्न हुए हैं। जैसे, कोई चित्रलेखक जब चित्रोंको बनाना चाहता है तब पहले श्वेत, अरुण, कृष्ण इत्यादि रंगोंको बनाता है इसी प्रकार प्रकृतिने सबसे पहले इन तीन रंगके गुणोंकी रचना की ॥

प्रश्न— प्रकृतिमें तो ये तीनों गुण अनादिकालसे हैं फिर भगवानने इनको ऐसा क्यों कहा, कि प्रकृतिने इनकी रचना की ?

उत्तर— जो गुण किसी विशेष व्यक्तिमें होता है उसे जब वह अपनेसे निकाल बाहरकी ओर लोगोंके सम्मुख प्रकटकर दिखलाता है तो उसको उसीकी रचना बोलते हैं। इस कारण प्रकृतिको अपने गुप्त गुणोंका प्रकट कर दिखलाना ही उसकी रचना कहीजाती है।

यदि यह शंका हो, कि साक्षात् भगवत्की प्रकृति जो सारे ब्रह्माण्ड को रचडालती है उसमें केवल तीन ही गुण क्यों ? उससे तो चार,

तिसकं तीनों गुणोंके पूर्ण वृत्तान्तका वर्णन करेंगे और दिखलावेंगे, कि इन गुणोंका संग कैसे होता है ? और किस गुणके संगसे क्या-क्या हानि और लाभ होते हैं तथा ये तीनों गुण प्राणियोंको कैसे फांस लेते हैं ? ।

मू०— सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

पदार्थः— महाबाहो ! ( महान्तौ बाहू यस्य तत्सम्बोधने हे महाबाहो ) +सत्वम् ( प्रकृतेर्गुणानां मध्ये प्रसादहर्षप्रीत्यसन्देहधृतिस्मृतीत्यादयः सुखजनकगुणः ) रजः (गुणानां मध्ये कामक्रोधलोभमानदर्पादिदुःखजनकगुणः ) तमः ( प्रमादालस्यशोकमोहादिजनकगुणः ) इति, प्रकृतिसंभवाः ( प्रकृतितः सम्भव उद्भवो येषां ते । त्रयाणां गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिर्माया भगवतस्तस्याः सकाशात् परस्परांगांगिभावेन परिणताः ) गुणाः, अव्ययम् ( अविकारिणम् ) देहिनम् ( देहवन्तम् । जीवम् । साधिष्ठानं चिदाभासम् ) देहे ( प्रकृतिकार्ये शरीरेन्द्रियसंघाते ) निबध्नन्ति ( निर्विकारमेव सन्तं विकारवद्दर्शयन्त स्वकार्यैः सुखदुःखमोहादिभिः संयोजयन्ति) ॥ ५ ॥

पदार्थः— ( महाबाहो ! ) हे जानुतक विशालभुजावाला अर्जुन ! ( सत्वम ) सत्वगुण प्रकृतिके गुणोंमें जो उत्तम गुण है

+ मोक्षधर्म ग्रन्थमें प्रमाद, हर्ष, प्रीति, असन्देह, धृति और स्मृति ये सत्व गुणके षट्धर्म हैं ।

फिर ( रजः ) रजोगुण जो उसी प्रकृतिका मध्यम गुण है तथा ( तमः ) तमोगुण जो उसीका अधमगुण है ( इति ) ये तीनों जो ( प्रकृतिसम्भवाः ) प्रकृतिसे उत्पन्न गुण हैं वे ( अव्ययम् ) इस अविनाशी तथा अविकारी ( देहिनम् ) आत्मसत्ताको ( देहे ) इस शरीरमें ( निबध्नन्ति ) बांधदेते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः— अब सर्वगुणाभिधान परमसुजान भगवान् कृष्णचन्द्र यहांसे गुणोंका वर्णन आरम्भ करते हुए कहते हैं, कि [ **सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः** ] सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ये तीनों गुण प्रकृतिसे उत्पन्न हैं अर्थात् मेरी दुरत्यया माहेश्वरी मायासे ही ये तीनों गुण उत्पन्न हुए हैं। जैसे, कोई चित्रलेखक जब चित्रोंको बनाना चाहता है तब पहले श्वेत, अरुण, कृष्ण इत्यादि रंगोंको बनाता है इसी प्रकार प्रकृतिने सबसे पहले इन तीन रंगके गुणोंकी रचना की ॥

प्रश्न— प्रकृतिमें तो ये तीनों गुण अनादिकालसे हैं फिर भगवान्ने इनको ऐसा क्यों कहा, कि प्रकृतिने इनकी रचना की ?

उत्तर— जो गुण किसी विशेष व्यक्तिमें होता है उसे जब वह अपनेसे निकाल बाहरकी ओर लोगोंके सम्मुख प्रकटकर दिखलाता है तो उसको उसीकी रचना बोलते हैं। इस कारण प्रकृतिको अपने गुप्त गुणोंको प्रकट कर दिखलाना ही उसकी रचना कहीजाती है।

यदि यह शंका हो, कि साक्षात् भगवत्की प्रकृति जो सारे ब्रह्माण्ड को रचडालती है उसमें केवल तीन ही गुण क्यों ? उससे तो चार,

पांच, सात, दश, बीस सहस्रों अगणित गुण प्रकट होने योग्य थे तो उत्तर यह है, कि प्रकृतिमें तीन ही गुणोंके प्रकट होनेका मुख्य कारण यह 'काल' है इसीलिये कालके जो भूत, वर्त्तमान और भविष्य ये तीन भेद हैं उनमें प्रकृति कार्य करती है। और काल कहते हैं समयको किसी वस्तुके प्रकट होनेसे पहले जो समय है उसका नाम भूत है, आगे जो समय है उसका नाम भविष्यत् है और जो मध्यका समय है वह वर्त्तमान कहाजाता है।

प्रकृतिमें जो केवल तीन गुण हैं वे उत्पत्ति, पालन और संहार के कारण ही हैं जितनी वस्तु-तरतु देखनेमें आती हैं सबोंमें रचना, पालन, और संहार ये तीन ही अवस्था हैं इसलिये प्रकृतिके तीन ही गुणोंके प्रकट होनेका अवकाश मिलता है। शंका मत करो!

अब भगवान अर्जुनके प्रति कहरहे हैं, कि [ **निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्** ] ये तीनों इस अव्यय अर्थात् सर्वविकारोंसे रहित अविनाशी जीवको इस प्रकार इस नश्वर विकारवान् शरीरके साथ जकडकर बांधलेते हैं जैसे किसी अपराधी (कैदी) को एक खम्भेमें जकडकर बांधदिया जावे।

अब यहां ऐसा न समझना चाहिये, कि इसके बांधदेनेके लिये सचमुच किसी रस्से डोर वा खम्भकी आवश्यकता है नहीं-नहीं परमार्थदृष्टिसें जो देखाजावे तो यह निर्विकार अव्यय अविनाशी जीवात्मा सचमुच नहीं बँधता है पर अविद्याके कारण बँधाहुआ भासता है क्योंकि पहला अंग इस प्रकृतिका रजोगुण है जिससे सृष्टिका आरम्भ

होता है और उसका प्रधान कारण मन है सो यह मन ही केवल बन्धनका कारण है । इस कारण भ्रमात्मकबुद्धिकी उपाधिसे यह जीव इन गुणोंके विकारके साथ मिलाहुआ ऐसे भासता है जैसे जल में सूर्यका बिम्ब मिलकर जलके कम्पके साथ कम्पायमान भासता है पर बिम्बमें कांपनेका धर्म नहीं है जलमें कांपनेका धर्म है पर उस जलपर बिम्ब पडनेसे किरणें कांपतीहुई भासती हैं । इसी प्रकार यह जीव गुणोंके विकारके साथ विकारवान् भासने लगजाता है यथार्थ-दृष्टिसे पूछो तो बँधाहुआ नहीं है पर अविद्याके भ्रमसे बँधाहुआ भासता है । क्योंकि पहले कहआये हैं, कि जो महान् होकर विस्तार को प्राप्त हो उसे महद्ब्रह्म ( प्रकृति ) कहते हैं सो सत्वादि तीनों गुणों की जहां साम्य अवस्था है तहां प्रकृति शान्तरूपसे है । पहले जो भगवान् इन गुणोंकी उत्पत्ति प्रकृतिसे कहआये हैं तिसका अर्थ ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि जैसे बछडे अपनी मैया गऊके पेटसे जन्म लेते हैं ऐसे ये तीनों गुण प्रकृतिसे जन्म नहीं लेते हैं वरु ये तीनों गुण तो प्रकृतिरूप ही हैं तीनोंकी साम्यावस्थाको प्रकृति कहते हैं।

सांख्य भी ऐसा ही कहता है " **सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः** " फिर जब तीनोंकी समान अवस्थाको प्रकृति कहते हैं तो इससे सिद्धान्त होता है, कि ये तीनों गुण उस प्रकृतिके अंग हैं इस लिये इन गुणोंको प्रकृतिसे अंगांगीभावका सम्बन्ध है सो जबतक ये तीनों गुण समानरूपसे उस प्रकृतिमें स्थित रहते हैं तबतक कहीं कुछ भी रचना इत्यादि नहीं होती पर जहां इनमें विषमता हुई तो जो

गुण आगे बढ निकला तदाकार यह जीव भासने लगगया इसलिये गुणोंके सम्बन्धसे यह जीव विकारवान् सुख दुःखका भोगनेवाला भासने लगता है । इन गुणोंकी विषमताको ही इन गुणोंका प्रकृति से उत्पन्न होना कहते हैं । इस कारण स्थिर और शान्तरूप प्रकृति में गुणोंकी विषमता ही इस जीवका बन्धन है जो परमार्थदृष्टिसे मिथ्या है पर हुआ ऐसा भासता है यही भूमात्मकबुद्धि इस प्राणीका घोर बन्धन है । श्रीअष्टावक्रजी राजा जनकसे कहते हैं, कि "मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः । एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु" ।

अर्थ— विषय जो तीनों गुणोंके कार्य हैं उनसे नीरस होकर रहना मोक्ष है और उन विषयोंमें लिपटना बन्धन है इसीको हे जनक! तू मोक्ष और बंध जानताहुआ जैसी इच्छा हो कर! ॥ ५ ॥

अब ये गुण किस प्रकार इस देहीको देहके साथ बांधडालते हैं सो भगवान् अगले श्लोकमें कथन करते हैं—

**मू०— तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।**
**सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ! ॥ ६ ॥**

पदच्छेदः— [ हे ] अनघ ! ( अघशून्याव्यसनिन् ! ) तत्र ( तेषु त्रिषु गुणेषु ) निर्मलत्वात् ( दुःखमोहाख्यमलराहित्यात् । स्फटिकवत् स्वच्छत्वात् ) प्रकाशकम् ( आलोकवत्सर्वार्थद्योतकम् ) अनामयम् ( निरुपद्रवम् ) सत्वम् ( सत्वगुणः ) सुखसंगेन, च ( तथा ) ज्ञानसंगेन ( ज्ञायते अनेनेति सत्वपरिणामो ज्ञानम् तेन सहितेन ) बध्नाति ( असंगं सक्तमिव करोति ) ॥ ६ ॥

पदार्थः— ( अनघ ! ) हे सर्व पापोंसे रहित अर्जुन ! ( तत्र ) इन तीनों गुणोंमें ( निर्मलत्वात ) निर्मल होनेके कारण ( प्रकाशकम ) सर्व अर्थोंका प्रकाश करनेवाला तथा ( अनामयम् ) सर्व प्रकारके दुःख और उपद्रवोंसे रहित जो ( सत्वम ) सत्वगुण है वह ( सुखसंगेन ) सुखके साथ ( च ) फिर ( ज्ञानसंगेन ) ज्ञानके साथ भी इस जीवको ( बध्नाति ) बांधडालता है ॥ ६ ॥

भावार्थः— भगवान् जो पहले कहआये हैं, कि मेरी प्रकृतिके तीनों गुण इस जीवको बांधलेते हैं सो इनमें सबसे जो उत्तम सत्वगुण वह कैसे इसको बांधलेता है ? सो वर्णन करतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [ तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ] इन तीनों गुणोंमें जो श्रेष्ठ सत्वगुण है वह अत्यन्त निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला है तथा सर्वप्रकारके उपद्रवोंसे रहित है ।

शंका— भगवानने इस सत्वगुणको निर्मल तथा प्रकाशक और निरुपद्रव क्यों कहा ? क्योंकि जब यह भी जीवोंको बांध ही लेता है तब इसमें बांधनेका विकार स्थित है फिर जो निरपराध दूसरोंको बांधलिया करे उसे निर्मल, प्रकाशक और निरुपद्रव कैसे कह सकते हैं ?

समाधान— यह सत्वगुण निर्मल प्रकाशक तथा निरुपद्रव इस कारण कहा जाता है, कि इसके संगी जो रज और तम हैं ये बडे अन्धेरे मचाने वाले हैं ये जीवोंको बांधकर अत्यन्त दुःख देते हैं तथा घोर अँधियालीमें डालदेते हैं इसमें तो सन्देह नहीं है, कि बांध-

नेका विकार इन तीनोंमें कहाजासकता है बांधलेनेकी अपेक्षा ये तीनों गुण समान हैं पर यहं जो सत्व गुण है वह बांधकर दुःख वा क्लेश नहीं देता। जैसे इन दिनों कारागारोंमें दो प्रकारके दण्डसे युक्त बन्दी बांधेजाते हैं एक केवल बंदीसारमें बैठालदियाजाता है, सुखपूर्वक अपने बिछावन पर सोया रहता है, समयपर बिना परिश्रम भोजन पाता है और दूसरा तेल पेरने, आटा पीसने इत्यादि कठोर दुःखोंमें डाला जाता है जिसको कठिन दण्ड कहते हैं।

इसी प्रकार रज और तमसे बांधेहुए जीव कठिन् दुःख सहते हैं और इस सत्वके बांधेहुएको सुखकी तथा ज्ञानकी प्राप्ति रहती है इसलिये इस गुणको निर्मल, प्रकाशक ज्ञानप्रद कहसकते हैं, जैसे कसाई और ब्राह्मण दोनों अपनी २ गौको खूटेमें बांधरखते हैं तहां कसाई तो गौको मार ही डालता है पर ब्राह्मण उस गौकी सेवा पूजा करता है। इसी प्रकार इन गुणोंके बांधनेमें भी भेद है अतएव सर्वविकारोंसे रहित होनेके कारण तथा सब कुछ जनादेनेके कारण इस सत्वगुणको रज और तमकी अपेक्षा निर्मल कहा। जैसे स्फटिक वा आलोकयन्त्र ( Lens ) अत्यन्त निर्मल होनेके कारण अपने सम्मुख हुए प्राणीकी छायाको बांध प्लेटपर खच्छकर उसके अंगोंको भिन्न २ प्रकाशित करदेता है। इसी प्रकार यह सत्वगुण प्राणीको अपने साथ बांधकर उसको सुखी करदेता है अर्थात् उसके हृदयमें ज्ञानका प्रकाश करता है जिससे वह यथार्थ तथा परमतत्वको जाननेके लिये समर्थ होता है इसी कारण भगवानने इस सत्वगुणको प्रकाशक और अनामय कहा। शंका मत करो!

इसी तात्पर्यको प्रकाश करते हुए भगवान् कहते हैं, कि [ **सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ !** ] हे पापरहित अर्जुन ! यह सत्वगुण एवम्प्रकार प्राणियोंको सुखके साथ तथा ज्ञानके साथ बांधडालता है इस कारण इसका बांधना साधारण प्राणियोंको दुःखदायी नहीं वरु सुखदायी है । जैसे किसी कामीपुरुषको कोई प्राणी सुन्दर स्त्रीके अंगसे जकडकर बांधदेवे तो ऐसा बांधना उसके सुखको कारण होगा । इसी प्रकार सत्वगुणका बन्धन जीवोंके लिये सुखका कारण है पर इस सुख और ज्ञानको ब्रह्मसुख वा ब्रह्मज्ञान नहीं समझना चाहिये क्योंकि ब्रह्मसुख और ब्रह्मज्ञान तो तीनों गुणोंसे रहित मन वालेको प्राप्त होते हैं बिना गुणातीत हुए इस अपूर्व सुख वा अलौकिक ज्ञानका लाभ नहीं होता यह सुख वा ज्ञान 'जिसका' इस श्लोकमें भगवान् वर्णन कररहे हैं वह तो क्षेत्रस्वरूप है जिसका वर्णन इस शरीररूप क्षेत्रके इच्छादिके साथ किया है " इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः " ( अ० १३ श्लो० ६ ) अर्थात् इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात और चेतना ( ज्ञान ) इनकी भी गणना क्षेत्रके धर्म्ममें है आत्माके धर्म्ममें नहीं ।

हां ! इतना तो अवश्य कहना ही पडेगा, कि सत्वगुणवालेकी सात्विकबुद्धि रहती है इसलिये उसे परमात्मज्ञानकी ओर तथा अक्षय सुखकी ओर भी रुचि होजाती है और ऐसा ही सात्विक पुरुष जिज्ञासु कहलाता है सात्विक पुरुषसे उसके आसपासके लोक सन्तुष्ट रहते हैं और उसका संग करना चाहते हैं । क्योंकि सत्वगुणके जो धर्म हैं वे आकर्षण रखते हैं कारण, कि प्रसाद, हर्ष, प्रीति, असन्देह, धृति

और स्मृति ये सत्वगुणके विशेष धर्म हैं इसलिये सात्विकगुणवाला अवश्य सर्वोसे प्रीति रखता है और सदा सबोंका कल्याण करता है और स्वयं हर्षित रहता है इत्यादि २ इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि यह गुण प्राणियोंको सुख और ज्ञान अर्थात् चेतनाके साथ बांध देता है।

सात्विक पुरुषोंमें प्रीति अवश्य होती है क्योंकि यह प्रीति सत्व. गुणका विशेष धर्म है सो सांख्यसे भी सिद्ध है। " प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योन्यवैधर्म्यम् " ( सां० अ० १ सू० १२७ ] अर्थात् प्रीति अप्रीति तथा विषादादि भेदोंसे गुणोंमें परस्पर वैधर्म्य है। अभिप्राय यह, कि सत्वगुणमें प्रीति, रजोगुणमें अप्रीति और तमोगुणमें विषाद ये परस्पर विरुद्ध धर्म तीनों गुणोंमें निवास करते हैं इस सूत्रसे भी सत्वगुणमें प्रीतिका होना सिद्ध है इसी कारण भगवानने इसको सुखस्वरूप और प्रकाशक कहा है ॥ ६ ॥

अब रजोगुणका बन्धन कैसा होता है ? सो भगवान् अगले श्लोक में कहते हैं—

मू०—रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥

पदच्छेदः— ( हे ) कौन्तेय ! ( कुन्तीपुत्रार्जुन ! ) रजः ( रजः संज्ञकं गुणम् ) तृष्णासंगसमुद्भवम् ( प्राप्यमानेषु अर्थेष्वतृप्तिः " तृष्णा " प्राप्ते विषये मनसः प्रीतिलक्षणः संश्लेषः तथा तस्य विनाशे संरक्षणाभिलाषा ' आसंगः ' तयोः सम्भवो यस्मात्तत् )

रागात्मकम् ( अनुरंजनरूपम् । रज्यते विषयेषु पुरुषोऽनेनेति रागः स एवात्मा स्वरूपं यस्य तद्रागात्मकम् ) विद्धि ( जानीहि ) तत् ( रजः ) देहिनम् ( देहाभिमानिनम् ) कर्मसंगेन ( दृष्टादृष्टार्थेषु कर्मसंगस्तेन । अहमिदंकरोम्येतत्फलं भोक्ष्य इत्यभिनिवेशविशेषेण ) निबध्नाति ( जननीजठरवासादिरूपां संसृतिं विस्तारयति ) ॥ ७ ॥

**पदार्थः**— ( कौन्तेय ! ) हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! ( रजः ) यह जो दूसरा रजोगुण है तिसे तू ( तृष्णासंगसमुद्भवम् ) तृष्णा और आसंग दोनोंकी उत्पत्तिका स्थान तथा ( रागात्मकम् ) प्राणीको अनुरंजन करनेवाला ( विद्धि ) जान ( तत् ) सो रजोगुण ( देहिनम् ) इस शरीराभिमानी जीवको ( कर्मसंगेन ) नाना प्रकारके कर्मोंके साथ ( निबध्नाति ) बांधि डालता है ॥ ७ ॥

**भावार्थः**— अब रजोगुण प्राणियोंको कैसे बांध लेता है ? तिसे भगवान् कहते हैं, कि [ **रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्** ] यह जो रजोगुण मेरी प्रकृतिका मध्यम गुण है उसे रागात्मक जानो ! अर्थात् विषयोंकी सुन्दरता सम्मुख लाकर जो मनको अनुरंजन करे अपनी ओर खींच जीवात्माको तद्रूप बना लेवे उसे रागात्मक कहते हैं सो यह रजोगुण रागात्मक है इसी गुणके द्वारा यह प्राणी शब्द, रूप, रस इत्यादिके वशीभूत रहता है, काम, क्रोध इत्यादि सब इसी गुणसे निकलते हैं । सो भगवान् पहले भी कह आये हैं, कि " **काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः** " ( अ० ३ श्लो० ३७ ) अर्थात् यह जो काम है और यह जो क्रोध है ये

रजोगुणसे उत्पन्न हैं जो इस जीवके पूर्ण बैरी हैं । अर्थात् विषयोंकी ओर दृष्टि देनेसे मन इनको ग्रहण करना चाहता है और जब इनकी प्राप्तिमें किसी प्रकारकी बाधा होने लगती है तब क्रोध उत्पन्न होआता है फिर इसके अतिरिक्त भगवान् कहते हैं, कि तृष्णा और आसंग इसी रजोगुणसे उत्पन्न होते हैं तृष्णा तो मनकी उस दशाको कहते हैं, कि चाहे कितनी भी कामनाएं पूर्ण होती जावें पर तृप्ति न होवे वरु जैसे २ पूर्त्ति होती जावे तैसे २ और भी दूसरी अप्राप्तवस्तुओंकी चाह बढती चली जावे इसी तृष्णारूप स्त्रीका पुरुष असन्तोष है । ये दोनों स्त्री पुरुष जहां जिसके हृदयमें निवास करते हैं उसके हृदयमें सातों समुद्रोंके रत्न भी भरदो तो भी रोता ही रहेगा इसी दशाको तृष्णा कहते हैं यह रजोगुणसे उत्पन्न होती है ।

आसङ्ग उसे कहते हैं, कि जो वस्तु प्राप्त होजाती है उसमें मनकी अधिक प्रीति हो जैसे अपुत्र प्राणीको जो कदाचित् कभी पुत्रका लाभ होजावे तो उस पुत्रमें उसकी इतनी प्रीति होती है, कि दिनरात उसे गलेमें लटकाये फिरता है इसीको आसंग कहते हैं अथवा उसका नाश होतेहुए भी देखकर उसकी रक्षाके निमित्त जो दिनरात यत्न करता रहता है उसे भी आसंग कहते हैं । इसी प्रकार किसी कृपणको जो कभी कुछ द्रव्य हाथ आजाता है तो वह निन्यानवेके फेरमें पडकर उसे सात तहके भीतर ऐसा बन्द करडालता है, कि कोई उसे देखने न पावे आप उसे बार-बार खोलकर देखाकरता है और गिनाकरता है इसीको धनका आसंग कहते हैं । इसी प्रकार स्त्री, घर तथा ग्रन्थ नाना प्रकारकी वस्तुओंका संग भी आसंग कहलाता है ।

भगवान् कहते हैं, कि [ **तन्निबध्नाति कौन्तेय ! कर्मसङ्गेन देहिनम्** ] हे कुन्तीका परमप्रिय पुत्र अर्जुन ! सो रजोगुण इस देहीको अर्थात् देहाभिमानीको कर्मके साथ बांध डालता है। तात्पर्य यह है, कि इस लोक तथा परलोकमें स्वर्गादि सुखकी प्राप्ति के निमित्त जो नाना प्रकारके लौकिक और वैदिक कर्म हैं उन कर्मों में बांधे रखना इसी रजोगुणका कार्य है। इसी रजोगुणके प्रभावसे जब प्राणी यों संकल्प करने लगता है, कि आज मैं अमुके कर्म करूंगा और इस कर्मका यों फल भोगूंगा, यों लाभ उठाऊँगा इसी को कर्मसंग कहते हैं सो प्राणी लौकिक और पारलौकिक कामनाओंके कारण कर्मसंगमें पड़कर फँसजाता है दिनरात कुछ न कुछ करता ही रहता है और करनेका अभिनिवेश सदा रजोगुणी पुरुषमें बनाही रहता है।

इन ही कर्मोंमें फँसकर देवीके मन्दिरोंके सम्मुख सहस्रों बकरोंको लेजाकर मारडालता है श्रीगंगाजीके अगाध जलमें जाकर बकरीके बच्चों और मेमनोंको डुबादेता है।

रजोगुणी मूर्ख ऐसे-ऐसे महाघोर कर्मोंको भी शुभकर्म समझते हैं औरोंको कौन गिने भीलोंका राजा, जडभरत ऐसे महात्मा को देवीके सामने वलिदान देने लेगया था।

इन वार्त्ताओंसे स्पष्ट होता है, कि रजोगुण अपनी तृष्णा और आसंगरूप रस्सोंको लिये रागात्मकरूप बडे मोटे खम्भमें इस जीवको बांधडालता है।

बहुतेरे प्राणी जो नाना प्रकारके विषयसुखोंकी प्राप्तिके निमित्त अहर्निश भगवद्भजन भूल नाना प्रकारके व्यवहार करते

कराते हैं उन्हें पुरुषार्थके नामसे पुकारते हैं परं इन कर्मोंको पुरुषार्थ नहीं कहना चाहिये वरु देहाभिमानके कारण कर्मोंके संगका अभिनिवेश कहना चाहिये। जैसे कामी पुरुष वेश्या इत्यादिके प्रेममें फँसकर प्रेमकी निन्दा करवाते हैं ऐसे लोभी लोभवश नाना प्रकारके कर्मोंमें फँसकर पुरुषार्थकी निन्दा करवाते हैं पर पुरुषार्थका स्वरूप एकबारगी नहीं जानते पुरुषार्थका यथार्थ स्वरूप सांख्य शास्त्रमें यों लिखा है, कि " अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः " ( सांख्य० अ० १ सू० १ )

अर्थ— आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविके इन तीनों प्रकारके दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति जिससे हो उसे अत्यन्त पुरुषार्थ कहते हैं परं इन दिनों रेलगाडी, वायुयान, स्टीमर, तोप, बडे-बडे राजमहल और दुर्गोंको बनाकर परस्पर युद्ध करनेको अत्यन्त पुरुषार्थ समझरहे हैं।

तात्पर्य यह है, कि रजोगुणी पुरुष तृष्णा, कामना, लोभ, असंग इत्यादि रागात्मिक कर्मोंका करना पुरुषार्थ समझते हैं यह उनकी भूल है पुरुषार्थमें और कर्मसंगमें पृथ्वी और आकाशका अन्तर है पुरुषार्थ बन्धनोंसे जीवको छुडानेवाला है और कर्मसंगका अभिनिवेश बन्धनोंमें बांधनेवाला है दोनोंमें परस्पर विरोध है इस कारण यह भेद यहां जनादिया गया, कि कर्मसंगके अभिनिवेशको कोई अज्ञानी पुरुषार्थ न समझजावे और पुरुषार्थको कर्मसंग न समझजावे।

भगवान् अर्जुनके प्रति कहरहे हैं, कि हे कुन्तीपुत्र ! तू विशालबाहु है इसलिये तू कदापि कर्मोंके संगमें न पड हां यदि कर्म करना

तुझे अभीष्ट हो तो राजस तामस कर्मोंको त्याग निरहंकार हो सात्विक कर्मोंका सम्पादन किया करे रागात्मक तृष्णा और असंग-भरे रजोगुणी कर्मोंके बन्धनमें मत पड ये तुझको ऐसे बांधलेवेंगे जैसे बलिदानका बकरा यूपमें बांधदेते हैं ।

मोक्षधर्म नामक ग्रन्थमें जो रजोगुणके विशेषधर्म लिखे हैं सो यहां लिखेजाते हैं । " कामः क्रोधः लोभः मानः दर्पश्च " अर्थात् विषयोंकी प्राप्तिकी जो तृष्णा तथा तिसके नहीं प्राप्त होनेसे चित्तका घोर दुःखमें पडकर खीझना फिर उन विषयोंके बढानेकी चेष्टामें नीतिको बिगाड डालना, नाना प्रकारके अन्यायोंके करनेमें तत्पर होना फिर अपनी बडाईकी इच्छा तथा दंभ ये सब रजोगुणके धर्म हैं ।

विषयोंके भोगनेकी जो प्रबल इच्छा है विशेषकर सुन्दर स्त्रियोंके संग रमण करनेकी जो अभिलाषा है उसे काम कहते हैं इसे सभी छोटे बड़े पूर्णप्रकार जानते हैं । यह काम भोग उपभोगसे शमन नहीं होता बस दिन दूना रात चौगुना बढता ही जाता है विशेषकर विषयी पुरुषोंमें जो रजोगुणकी मूर्ति ही होते हैं यह काम अधिक होता है और इसके अधिक भडकनेका कारण जो सुन्दर-सुन्दर स्त्रियां, वे उन्हें अधिक मिलती हैं ।

" न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥"
( मनुः अ० १ श्लो० ९४ )

अर्थ— कामनाओंके उपभोगसे यह काम कभी भी शान्त नहीं होता जैसे घीकी आहुतिसे अग्निकी ज्वाला बार २ बढती ही जाती है।

क्रोधः— " प्रतिकूले सति तैक्ष्णयस्य प्रबोधः " अपने प्रतिकूल विषयके सम्मुख होनेसे जो चित्तकी तीक्ष्णताका प्रबोध होता है उसे क्रोध कहते हैं। इस क्रोधसे आठ प्रकारके व्यसन उत्पन्न होते हैं—

" पैशुन्यं साहसं द्रोहः ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डञ्च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः "

( मनुः ) अर्थ स्पष्ट है।

लोभः— द्रव्य तथा अन्य प्रकारकी सम्पत्तियोंकी इच्छाकी न्याय-रहित वृद्धिको लोभ कहते हैं। इसका लक्षण यह है— " परवित्तादिकं दृष्ट्वा नेतुं यो हृदि जायते। अभिलाषो द्विजश्रेष्ठः स लोभः परिकीर्तितः " ( पाद्मक्रियायोगसारे अध्याय १६ )

संक्षिप्त अर्थ यह है, कि परायेके वित्तको देखकर उसे लेलेने की जो अभिलाषा उसे लोभ कहते हैं।

" लोभात् क्रोधः प्रभवति लोभात्कामः प्रजायते।
लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभः पापस्य कारणम्॥
मातरं पितरं पुत्रं भ्रातरं वा सुहृत्तमम्।
लोभाविष्टो नरो हन्ति स्वामिनं वा सहोदरम्॥ "

( अर्थ स्पष्ट है )

मानः— " मत्समो नास्तीति मननं मानः " तथा " आत्मनि पूज्यताबुद्धिः " अर्थात् मेरे समान कोई दूसरा नहीं है ऐसा मनमें

मानना तथा अपनेको दूसरोंसे पुजवानेकी जो बुद्धि उसे मान कहते हैं । जो ज्ञानी हैं उनका प्रथम लक्षण भगवान्ने **अमानित्व** कहा है अर्थात् मानसे रहित होना । फिर मनु कहते हैं– **"द्वेषं दम्भञ्च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यञ्च वर्जयेत्"** ( मनुः अ० ४ श्लो० १६३ )

अर्थात् द्वेष, दम्भ, मान, क्रोध और तीक्ष्णताको त्याग कर देना चाहिये ।

दर्पः— **'उच्छृंखलत्वम्'** तथा **'अहंकृतिः'** अर्थात उच्छृंखलता और विशेष प्रकारके अहंकारको दर्प कहते हैं । गर्व, अभिमान, ममता, मान और स्मय ये सब इसीके पर्याय शब्द हैं । भगवान् ब्रह्मवैवर्त्तपुराण कृष्णजन्मखण्डमें कहते हैं, कि **"येषां भवेद्दर्पो ब्रह्माण्डेषु परमात्परे । विज्ञाय सर्वं सर्वात्मा तेषां शास्ताहमेव च । क्षुद्राणां महतां चैव येषां गर्वो भवेत्प्रिये । एवं विधमहन्तेषां चूर्णीभूतं करोमि च"** इस ब्रह्माण्डमें जिन्हें २ दर्प होता है उन सबोंको जानकर मैं सर्वात्मा उनका शासन करदेता हूं । छोटे हों चाहे बड़े हों जब जिनको जहां दर्प होता है मैं उनको चूर २ करडालता हूं अर्थात् उनके गर्वको तोड़डालता हूं इस वचनसे सिद्ध होता है, कि दर्प महा निन्दनीय और नरक लेजानेवाला होता है, ।

उपरोक्त काम, क्रोध, लोभ, मान और दर्प जो रजोगुणके विशेष धर्म हैं ये प्राणियोंको कर्ममें फांस लेते हैं ॥ ७ ॥

अब तमोगुण इस जीवको कैसे फांसलेता है ? सो भगवान् कहते हैं ।

मू०— तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्य निद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ! ॥८

पदच्छेदः— [हे] भारत ! ( भरतवंशोद्भवार्जुन ! ) तमः ( तमोगुणः ) तु ( निश्चयेन ) अज्ञानजम् ( अज्ञानाज्जातम् । मायाया विशेषरूपेण या आवरणशक्तिस्तत उद्भूतम् ) [अतएव] सर्वदेहिनाम् ( सर्वेषां देहवताम ) मोहनम् ( भ्रान्तिजनकम् । हिताहितादिविवेकप्रतिबन्धकम् । स्वरूपाच्छादकम ) विद्धि ( जानीहि ) तत् ( तमोगुणः ) प्रमादालस्यनिद्राभिः ( कार्यान्तरासक्ततया चिकीर्षितस्य कर्तव्यस्याकरणम् प्रमादः निरीहतयोत्साहप्रतिबन्धकत्वमालस्यम स्वापो निद्रा ताभिः ) निबध्नाति ( नितरां बध्नाति । निर्विकारमेवात्मानं विकारयति ) ॥ ८ ॥

पदार्थः— ( भारत ! ) हे भरतवंशोत्पन्न अर्जुन ! ( तमः ) यह तमोगुण ( तु ) जो विशेष करके ( अज्ञानजम् ) अज्ञानसे उत्पन्न है इसलिये इसको ( सर्वदेहिनाम् ) सब देहधारियोंका ( मोहनम् ) मोहनेवाला अर्थात् भ्रममें डालनेवाला ( विद्धि ) जान ( तत् ) सो तमोगुण ( प्रमादालस्यनिद्राभिः ) प्रमाद, आलस्य और निद्रासे जीवोंको ( निबध्नाति ) बांध डालता है ॥ ८ ॥

भावार्थः— अब भगवान तीसरे गुण तमोगुणका जो सब से अधिक दुःखदायी है वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [ तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ] इस तमोगुणको अज्ञान से उत्पन्न तथा सब प्राणियोंको मोहमें डालनेवाला जान । तात्पर्य

यह है, कि यद्यपि सत्वादिक तीनों गुण मायासे ही उत्पन्न हैं पर इन तीनोंमें तमोगुणको मायाका परम प्रिय पुत्र भी कहना चाहिये। अथवा यों कहसकते हैं, कि जैसे सृष्टि प्रकृतिके सत्वगुणसे पाली-जाती है ऐसे " अज्ञान " मानो इस तमोगुणसे पलरहा है। जैसे शरीरमें प्राण सम्पूर्ण देह और इन्द्रियोंके स्थिर रखनेका कारण है ऐसे प्रकृतिरूप शरीरका अर्थात् अविद्या वा अज्ञानरूप शरीरका पालन करनेवाला यह तमोगुण ही है। इसके विलग होनेसे अविद्या के घरका मध्य खम्भ उखडजाता है। अविद्या अधिकांश इसीपर अपना जीवन व्यतीत करती है। अविद्या जो माया तिसके पास यही एक वशीकरण महामंत्र है जिससे सब छोटे बडोंको अपने वशमें रखती है क्योंकि इसी तमोगुणने देहको आत्मा समझरखा है इसी कारण भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि " **मोहनं सर्वदेहिनाम्** " यह तमोगुण सब देहधारियोंको मोहमें डालनेवाला है भ्रमके जालमें फँसानेवाला है। यह तमोगुणरूप मोहिनी मंत्र जाननेवाला खिलाडी एक ही बार ' छूः ' कहनेसे सहस्रों जीवोंको अपनी ओर करलेता है उनको हित और अहितका विचार नहीं रहनेदेता। जैसे मद्यपी मद्यके नशेमें हानिलाभका विचार नहीं रखता ऐसे यह जीवोंको अपने हाथ से उन्मत्तताका प्याला पिलाकर अचेत करदेता है और निषिद्ध कर्मोंको करवा डालता है। अब भगवान् कहते हैं, कि [ **प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत** ] हे भरतवंशावतंस अर्जुन! यह तमोगुण प्रमाद, आलस्य और निद्रा इन तीन बन्धनोंसे देहधारियोंको बांधलेता है। इनमें जो पहला प्रमाद है वह किसी वस्तु

वा किसी तत्त्व वा किसी व्यवहारको ठीक २ समझने नहीं देता। अतएव उसे प्रमाद कहते हैं तहां श्रीअभिनवगुप्ताचार्यजीकी यह सम्मति है, कि " दुर्लभस्यापि चिरसंचितपुण्यस्य लब्धस्यापवर्गप्राप्तावेककारणस्य मानुष्यकस्य वृथा वाहनं प्रमादः " अर्थात् यह जो मानुषी शरीर अत्यन्त दुर्लभ अनेक जन्मोंके बहुतेरे संचित पुण्योंकी प्राप्ति द्वारा लाभ होता है तथा जो यह एक मानुषी शरीर अपवर्गकी प्राप्तिका कारण है तिसे मिथ्या बितादेना प्रमाद है। फिर कहते हैं, कि " आयुषः क्षण एकोऽपि सर्वरत्नैर्न लभ्यते । स वृथा नीयते येन स प्रमादी नराधमः " अर्थात् इस आयुका एक क्षणमात्र भी बहुमूल्य सर्वरत्नोंके देनेसे भी नहीं मिलसकता है उसे जो वृथा गँवादेवे वही प्रमादी और नरोंमें अधम कहा-जाता है।

यह प्रमाद घोर नरकका कारण है क्योंकि यह प्रमाद आत्म-ज्ञानको नहीं प्राप्त होनेदेता। इसीको अनवधानता भी कहते हैं।

अब दूसरा " आलस्य " उसे कहते हैं जो उत्साहका प्रति-बन्धक होता है, यह प्राणीको खाटसे उठने नहीं देता, कैसा भी कार्य नष्ट होरहा हो यह तनक भी हाथ पैर हिलाने नहीं देता, चाहे घरमें आग लगजावे सारा घर भस्म होजावे पर पानीका कभी नाम भी नहीं लेनेदेता, कभी किसी समय किसी काज करनेका साहस भी करना चाहता है तो बिछावनसे उठतेहुए आह ऊह करके घंटोंमें नीचे पांव रखता है पर फिर लेटजाता है सूखी रोटी खाकर सोजाता

है पर उसपर लवण या शाकके लानेका यत्न नहीं करता। इसी आलस्यके कारण मनुष्यकी सब इन्द्रियां निरर्थक होजाती हैं सारा शरीर जकड़कर काष्ठके समान जड़वत होजाता है इसके कारण किसी भी कर्म करनेका उत्साह नहीं होता मनुष्य घरसे बाहर निकल कर कोई व्यवसाय नहीं करता इसी कारण सदा दरिद्र बना रहता है।

अब तीसरी " निद्रा " भी इसी आलस्यकी परम प्रिया भार्या है। जहां आलस्य है वहां ही निद्रा देवी भी सुखपूर्वक निवास करती है। आलस्य और निद्रा इन दम्पतियोंको जहां देखिये तहां एक-साथ हैं जिस प्राणीमें यह निद्रा विशेष होती है वह कुम्भकर्णके समान भगवान्से छः महीनेकी नींद बरदान मांगता है। " **निद्रालुः क्रूरकृल्लुब्धो नास्तिको याचकस्तथा । प्रमादवान् भिन्नवृत्तो भवेत्तिर्यक्षु तामसः** "। ( याज्ञवल्क्य ३। १३६ )

अर्थ— अधिक निद्रा लेनेवाला, क्रूर कार्य करनेवाला, लोभी, नास्तिक, याचक, प्रमादी, भिन्नवृत्त ये तमोगुणवाले सबके सब तिर्यग् योनि अर्थात् पशु पक्षीकी योनिमें उत्पन्न होते हैं।

भगवानके कहनेका अभिप्राय यह है, कि तमोगुण प्राणियोंको इन तीन विशेष अवगुणोंसे अर्थात् प्रमाद, आलस्य और निद्रासे बांध लेता है जिस कारण प्राणी अधोगतिको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

अब भगवान अगले श्लोकमें संक्षिप्तरूपसे उक्त तीनों गुणोंके मुख्य कार्योंका एक ठौर वर्णन करते हैं।

मू०— सत्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ! ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ ६ ॥

पदच्छेदः— [ हे ] भारत ! ( भरतवंशावतंस ! ) सत्वम् ( सत्वगुणः ) सुखे, सञ्जयति ( संश्लेषयति ) रजः ( रजोगुणः ) कर्मणि [ सञ्जयति ] उत ( अपि एव ) तमः ( तमोगुणः ) तु ( निश्चयेन ) ज्ञानम् ( विवेकम् ) आवृत्य ( आच्छाद्य ) प्रमादे ( प्राप्तकर्त्तव्यताऽकरणे । सदुपदिश्यमान-ज्ञानावधाने ) सञ्जयति ( संयोजयति ) ॥ ६ ॥

पदार्थः— ( भारत ! ) हे भरतकुलभूषण अर्जुन ! ( सत्वम ) इन गुणोंमें जो सत्वगुण है सो ( सुखे ) प्राणियोंको सुखके साथ ( सञ्जयति ) मिलादेता है ( रजः ) रजोगुण ( कर्मणि ) कर्मके साथ जोडदेता है ( उत ) और ( तमः, तु ) तमोगुण तो ( ज्ञानम ) प्राणियोंके ज्ञानको ( आवृत्य ) आवरणकरके ( प्रमादे ) प्रमादके साथ ( सञ्जयति ) संयुक्त करदेता है ॥ ६ ॥

भावार्थः— अब भगवान् संक्षेप करके तीनों गुणोंके मुख्य-मुख्य कार्योंका एकठौर वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [ सत्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ! ] इन तीनों गुणोंमें सबसे उत्तम जो सत्वगुण है वह देहधारियोंको सुखके साथ मिलाता है और रजोगुण कर्मोंके साथ जोडदेता है। अर्थात् यह सत्वगुण प्राणियोंकी बुद्धिको ऐसी प्रेरणा करता है, कि जिससे प्राणी अपने सुखकी प्राप्तिका यत्न करता हुआ अपनी इच्छानुसार नाना प्रकारके सुखकी वस्तुओंको प्राप्त

करता है । क्योंकि इस गुणवालेकी बुद्धि निर्मल, स्वच्छ और प्रकाश-युक्त होती है इसी कारण बुद्धिमें प्रसाद ( प्रसन्नता ) हर्ष, प्रीति इत्यादि जिनका वर्णन श्लोक ६ में करआये हैं उत्पन्न होते हैं और ये सब लक्षण सुखजनक हैं इस कारण यह सत्वगुण सुखका उत्पन्न करनेवाला है ।

और यह जो रजोगुण है वह कर्मके साथ संयुक्त करता है अर्थात् उसी ऊपर कथन कियेहुए संसृतिसुखकी प्राप्ति निमित्त नाना प्रकारके कर्मोंमें फँसादेता है तात्पर्य यह है, कि इसी रजोगुणके कारण मनुष्य ऐसा समझता है, कि जब मैं अमुक लौकिक कर्म करूंगा तब मुझे सुख होगा । जैसे छोटे-छोटे विद्यार्थी पाठशालामें जब विद्योपार्जन करते हैं तो वे ऐसा समझकर, कि मैं बहुत बड़ा उत्तम विद्वान् होजाऊंगा तो मेरा सब छोटे-बड़े राजा महाराजा आदर करेंगे, पूज्य होजाऊंगा और पुष्कल धन लाभ करूंगा तो मुझे सुख प्राप्त होगा ऐसा विचार विद्याके उपार्जनमें अहर्निश लगजाते हैं । अर्थात् अध्य-यनरूप कर्मका पूर्णप्रकार सम्पादन करते हैं फिर ब्रह्मचर्य आश्रममें विद्या उपार्जन कर जब गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते हैं तब उनका अर्थ सिद्ध होजाता है फिर इस आश्रममें भी स्वर्गकी कामनासे यज्ञादिका सम्पादन करते रहते हैं ।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि सदा कर्ममें ही फंसे रहते हैं भला ये कर्म तो कुछ उत्तम और श्रेष्ठ भी हैं पर बहुतेरे प्राणी इससे भी मध्यम और नीच कर्मसे लगे रहते हैं । कोई वाणिज्यमें, कोई

युद्धादि कर्ममें, कोई राजा महाराजा इत्यादिकी सेवा शुश्रूषामें अह-र्निश फँसे रहते हैं। अर्थात् चारों वर्ण और चारों आश्रमवाले जो अपने-अपने कर्मोंमें फँसे रहते हैं उनको यह रजोगुण ही इन कर्मोंमें फँसाये रखनेका कारण है।

अब भगवान् कहते हैं, कि [ **ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत** ] तीसरा गुण जो तमोगुण सब गुणोंमें निकृष्ट है वह प्राणियोंके ज्ञानरूप प्रकाशको अपने घोर अन्धकारसे ढककर प्रमादादि विकारोंकी घोर धारमें डुबाडालता है।

**शंका**— भगवान् इन तीनों गुणोंके विषय तो ६,७ और ८ तीनों श्लोकोंमें सुख, कर्म तथा प्रमादके साथ बन्धनका वर्णन कर ही चुके थे फिर इस श्लोकमें उसीकी पुनरुक्ति करनेका क्या प्रयोजन ?

**समाधान**— ६, ७ और ८ श्लोकोंमें इन तीनों गुणोंके अनेक प्रकारके बन्धनोंका वर्णन किया। जैसे सुख, ज्ञान, कर्म, प्रमाद, आलस्य, निद्रा इत्यादि पर नवें श्लोकमें फिर करनेका तात्पर्य यह है, कि ये तीनों गुण किसी बन्धनमें डालें वा न डालें पर इन तीनों गुणोंके जो तीन प्रधान बन्धन हैं उनमें ये अवश्य बांधते हैं अर्थात् सत्वगुणका सुख रजोगुणका कर्म तमोगुणका प्रमाद ये प्रधान हैं। तात्पर्य यह है, कि तमोगुणका कुछ भी न करना, रजोगुण का करना और सत्वगुणका सुख प्रदान करना ये धीरे२ तीनों गुणों का निकृष्ट, मध्यम और उत्तम होना सिद्ध करते हैं यह पुनरुक्ति नहीं है। शंका मत करो। ॥ ६ ॥

अब भगवान् पुण्डरीकायताक्ष शोकमोहविध्वंसकारी मुकुन्द मुरारी श्रीआनन्दकन्द कृष्णचन्द्र अगले श्लोकमें इन तीनों गुणों के व्यापारका समय दिखलाते हैं अर्थात कब? किस समय? ये तीनों गुण अपना-अपना प्रभाव देहधारियोंपर डालते हैं सो कहते हैं—

मू०— रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत ! ।
रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

पदच्छेदः— [ हे ] भारत ! ( भरतवंशावतंस ! ) [ क्वचित् ] सत्वम् ( सत्वगुणः ) रजः ( रजोगुणम् ) तमः ( तमोगुणम् ) च, अभिभूय ( तिरस्कृत्य ) भवति ( वर्द्धते ) [क्वचित्] रजः ( रजोगुणः ) सत्वम् ( सत्वगुणम् ) तमश्च ( तमोगुणञ्च ) एव [ अभिभूय उद्भवति ] तथा ( तेन प्रकारेण ) तमः ( तमोगुणः ) सत्वम् ( सत्वगुणम् ) रजः ( रजोगुणम् ) [ अभिभूय उद्भवति ] ॥ १० ॥

पदार्थः— ( भारत ! ) हे भरतवंशके भूषण अर्जुन ! कभी कभी ( सत्वम् ) यह जो सत्वगुण है वह ( रजः ) रजोगुण और ( तमः ) तमोगुणको ( अभिभूय ) तिरस्कार करके अर्थात निर्बल करके प्राणीके शरीरमें ( भवति ) प्रकट हो वृद्धिको प्राप्त होता है । इसी प्रकार कभी-कभी ( रजः ) रजोगुण भी ( सत्वम् ) सत्वगुण और ( तमः च ) तमोगुणको ( एव ) भी जीतकर वृद्धिको प्राप्त होता है ( तथा ) इसी रीतिसे कभी-कभी ( तमः ) यह जो तमोगुण है वह ( सत्वम् ) सत्व और ( रजः ) रजोगुण इन दोनोंको जीतकर वृद्धिको प्राप्त होता है ॥ १० ॥

भावार्थ:— अब भगवान् इन तीनों गुणोंके न्यून और अधिक होनेके विषय अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि तू अवश्य इन गुणोंके यथार्थभेदको समझजावेगा इस कारण मैं तुझसे कहता हूं, कि इन तीनों गुणोंकी वृद्धि और न्यूनता इन देहधारियोंके शरीरोंमें समय-समयपर होती रहती हैं ये कैसे होती हैं ? सो सुन!

[ रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत ! ] कभी-कभी इस जीवका जब उत्तम प्रारब्ध उदय होता है तब यह सत्वगुण जो सब गुणोंमें उत्तम गुण सदा सुख और ज्ञानका देनेवाला है वह अन्य दोनों रजोगुण और तमोगुणके बलको कम कर इनको दाबलेता है और आप वृद्धिको प्राप्त होजाता है।

इसी प्रकार कभी-कभी [ रज: सत्वं तमश्चैव तम: सत्वं रजस्तथा ] रजोगुण जो सदा देहाभिमानियोंको कर्मकी डोरीमें बांधनेवाला है सत्वगुण और तमोगुण दोनोंको निर्बलकर आप वृद्धि को प्राप्त होजाता है। इसी प्रकार कभी २ अपना समय पाकर यह जो महा घोर अन्धकारस्वरूप तमोगुण है वह अन्य दोनों सत्वगुण और रजोगुणको ऐसा दाबलेता है जैसे घोर मेघमण्डल सूर्यके प्रकाशको दाबकर बढना आरम्भ होता है और बढते २ सर्वत्र दशों दिशाओंमें अन्धकार ही अन्धकार करदेता है। इसके सम्मुखसे सत्व और रज दूर भागकर ऐसे सिकुडजाते हैं जैसे, व्याघ्र वा सिंहका घोर गर्जना सुनकर बनके क्षुद्र जन्तु जिधर-तिधर झाडियोंमें तितर-बितर होकर छिपजाते हैं।

यदि शंका हो, कि ये तीनों गुण एक ही प्रकृतिसे उत्पन्न हैं इनको तो परस्पर सम रहना चाहिये फिर इनमें न्यूनाधिक्य क्यों होता है ?

तो उत्तर यह है, कि जहां इनकी समता होगी वहां तो स्वयं प्रकृतिका रूप ही स्थिर रहेगा फिर तो प्रकृति शान्तस्वरूपमें पडी रहेगी क्योंकि इन तीनों गुणोंकी समताको ही प्रकृति कहते हैं। प्र०— "सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः" (सांख्य० अ० १ सू० ६१) अर्थात सत्व, रज और तम इन तीनों गुणोंके सम होनेकी जो अवस्था है वही प्रकृति है। तात्पर्य यह है, कि प्रकृतिने जिस अवस्थामें अपने तीनों गुणोंको सम रखा है उस अवस्थामें स्वयंस्वरूप उस परब्रह्मकी परमानन्ददायिनी त्रिगुणात्मिका माया कहलाकर अपने महाप्रभुके साथ निवास करती है पर जब सृष्टिका आरम्भ होता है तब इन तीनों गुणोंमें विषमता उत्पन्न होती है। तहां सबसे पहले रजोगुणकी वृद्धि होती है उससे सृष्टि आरम्भ होने लगजाती है अर्थात ब्रह्मा इस रजोगुणका अधिष्ठातृहोकर सृष्टि रचने लगजाता है। अथवा इसे यों समझलो, कि उस महाप्रभुकी परम शक्ति मायामें जो सृष्टि रचनेकी प्रभुता है उसे ब्रह्माके नामसे पुकारते हैं जो सृष्टिका रचनेवाला कहा जाता है इसी प्रकार जब सत्वगुणकी वृद्धि होती है तब उससे विष्णुदेव उत्पन्न होकर सृष्टिका पालन करता है अर्थात उस महाप्रभुकी पालन करनेकी जो प्रभुता है उसके अधिष्ठातृदेवको विष्णु कहते हैं। फिर जब तमोगुणकी वृद्धि होती है तब उसका अधिष्ठातृदेव शिवशंकर प्रकट होकर नाश करना आरम्भ करता है और प्रलयकालमें सारी सृष्टिको

1119

नाश करडालता है फिर जब इन तीनों शक्तियोंकी एक संग सम अवस्था होती है तब वह प्रकृति जो माहेश्वरी माया है अपनी त्रिगुणात्मिका शक्तिको समेट कर उस महाप्रभुमें शयन करजाती है ।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि जब तक यह माहेश्वरी माया शान्तस्वरूपसे अपने परमपुरुष महेश्वरके स्वरूपमें सुप्तके समान शान्त पड़ी रहती है तब तक ये तीनों गुण सम रहते हैं और उसीको माया कहते हैं । परे जब वह महेश्वर इस अपनी मायाको सृष्टि रचनेकी आज्ञा देता है तभी इसमें विषमता उत्पन्न होती है । शंका मत करो !

एवम्प्रकार इन तीनों गुणोंसे सृष्टिका सम्पूर्ण व्यवहार होता है। जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश त्रिदेवोंमें एकएक गुणकी प्रधानता है इसी प्रकार इन तीनोंसे नीचे अन्य जितने देव, देवी, राक्षस, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि हैं सबोंमें उनके कर्मानुसार इन तीनों गुणोंका न्यूनाधिक्य है ।

अर्थात् सारी सृष्टिमें जितने जड चेतन हैं सब इनही तीनों गुणोंके मेलसे बने हैं पर सबोंमें ये तीनों गुण विषमरूपसे हैं । किसीमें सत्वगुणका अंश अधिक और रज तमके अंश थोडे हैं, किसीमें रजोगुणका अंश अधिक और सत्व तमके अंश थोडे हैं । इसी प्रकार किसीमें तमोगुणका अंश अधिक और सत्व रजके अंश थोडे हैं । एवम्प्रकार गुणोंकी न्यूनता और अधिकता होनेके भेदसे अगणित योनियोंके मस्तिष्क बने हैं । देव, राक्षस, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट,

पतंग, सूर्य, चन्द्र, नदी, नद, पर्वत, सागर, बन, बनस्पति आदि सबोंमें इन तीनों गुणोंका मेल है।

जैसे गाय, बकरी, शुक, पिक, सारस, हंस इत्यादि जीवोंमें सत्वगुण की अधिकता है और रज तम थोडे हैं। इसके प्रतिकूल व्याघ्र, भेडिये, काक, बाज, सर्प इत्यादि जीवोंमें रज और तम अधिक हैं और सत्वगुण थोडा है। ऐसे ही देवताओंमें सत्वगुण अधिक और रज तम थोडे हैं। राक्षसोंमें रज तम अधिक और सत्वगुण थोडा है। अभिप्राय यह है, कि सब जीवोंके मस्तिष्क इन तीनों गुणोंके मेलसे तयार किये गये हैं।

अब यहां भगवानके कहनेका तात्पर्य यह है, कि चाहे किसी जीवमें कितना भी किसी गुणका अंश न्यून वा अधिक क्यों न हो पर अवकाश पाकर जब जिस गुणके फल भोगनेका समय उदय होआता है तब वह गुण अधिक बल पाकर बढना आरम्भ करता है और शेष दोनोंको दाबलेता है। जैसे ग्रीष्म ऋतुमें गरमीकी अधिकता होनेसे सरदी नीचे दबजाती है वा हिमऋतुमें शीतकी अधिकता उष्णताको दबालेती है इसी प्रकार प्रारब्धके नियममें बँधाहुआ जिस गुणके बढनेका समय इस शरीरमें पहलेसे नियत है उस समय वही गुण बढता है। अथवा जैसे शीतज्वरके रोगमें पहले शीतका उदय होकर सम्पूर्ण शरीरको कम्पायमान करदेता है पश्चात् ज्वरकी उष्णता बढते २ शीतको इतना दाबलेती है, कि कम्पका कहीं नाम भी नहीं रहता ज्वर ही ज्वर बढकर सारा शरीर उष्ण करदेता है इसी प्रकार गुणोंके भेदको भी समझना चाहिये ॥ १० ॥

अब अगले श्लोकमें भगवान इन तीनोंकी न्यूनता वा अधिकतासे क्या हानि और लाभ होते हैं सो दिखलाते हैं।

मू०— सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्वमित्युत ॥ ११

**पदच्छेदः—** अस्मिन्, देहे ( पांचभौतिकभोगायतने शरीरे ) सर्वद्वारेषु ( श्रोत्रादिषु सर्वेषु वाह्याभ्यन्तरकरणेषु ) यदा ( यस्मिन्काले ) ज्ञानम् ( शब्दादिविषयबोधविशेषः ) प्रकाशः ( स्वविषयावरणविरोधिदीपवत् अन्तःकरणस्य बुद्धेर्वृत्तिविशेषः प्रकाशः ) उपजायते ( उत्पद्यते ) तदा ( तस्मिन् काले ) उत ( अपि ) सत्वम् ( सत्वगुणः ) विवृद्धम्, इति, विद्यात् ( जानीयात् ) ॥ ११ ॥

**पदार्थः—** ( अस्मिन् देहे ) इस पांचभौतिक शरीरमें ( सर्वद्वारेषु ) श्रवण इत्यादि सब इंद्रियोंके मध्य ( यदा ) जिस समय ( ज्ञानम् ) इन इंद्रियोंका यथार्थ ज्ञानस्वरूप ( प्रकाशः ) प्रकाश ( उपजायते ) उत्पन्न होता है ( तदा ) तिस समय ( उत ) ही ( सत्वम् ) सत्वगुणकी ( विवृद्धम् ) विशेषरूपसे वृद्धि हुई है ( इति ) ऐसा ( विद्यात ) जानना चाहिये ॥ ११ ॥

**भावार्थः—** बुद्धिमानोंको और ज्ञानियोंको कब समझना चाहिये, कि अब सत्वगुणकी वृद्धि होरही है और अन्य गुण दबते चलेजारहे हैं इसका चिन्ह बतातेहुए भगवान कहते हैं, कि [ सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते। ज्ञानं यदा ]

जिस समय बिना किसी यत्नके आपसे आप इस शरीरमें इंद्रियोंके मध्य ज्ञानरूप प्रकाश उत्पन्न होता है अर्थात यह शरीर जो पांचों महाभूतोंका विकार है सर्वप्रकारके सुख दुःख भोगने का स्थान है और जो तीनों गुणोंसे फेंटकर एक पिण्ड बनाहुआ है जिस त्रिगुणात्मक पिण्डके बाहरके दश द्वार हैं और भीतरके चार द्वार हैं। अर्थात श्रवणादि जो दश इंद्रियां बाह्यकरणके नामसे पुकारी जाती हैं और मन, बुद्धि इत्यादि चारों करण जो अन्त:करणके नाम से पुकारे जाते हैं इन चौदहों करणोंमें जब इस प्रकारका बोध उत्पन्न होता है, कि इंद्रियोंका यह उत्तम कार्य है, उनको उचित प्रकार काममें लानेकी यही रीति है इनसे अनुचित काम लेनेसे कितनी हानि होगी और कितना दुःख होगा ? तात्पर्य यह है, कि इनका उचित व्यवहार कहां तक है और अनुचित व्यवहार कहांतक है क्या विधि है ? और क्या निषेध है ? इस प्रकारका प्रकाश जब इंद्रियों के द्वारेपर दीपकके समान बलताहुआ भीतर और बाहर दोनों ओरके व्यवहारोंकी बुद्धिवृत्तिको प्रकाश करने लगजाती है तब वही इन्द्रियात्मक ज्ञान कहाजाता है सो जब इस प्रकारका ज्ञान बुद्धिको प्राप्त होने लगजावे अर्थात शब्दादि प्रकाशक यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होने लगे और जब बुद्धि ऐसी सूक्ष्म होजावे कि न्यायकी दृष्टि से हंसकी चोंचके समान दूधका दूध और पानीका पानी विलग करदेवे [ **तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत** ] तब जानना चाहिये, कि अब इस मेरे शरीरमें सत्वगुणकी वृद्धि होरही है।

ऊपर जो कथन किया; कि श्रवण इत्यादि इंद्रियोंको उचित व्यवहारमें लगाना इंद्रियोंका ज्ञानरूप प्रकाश है इसे अधिक समझाने के लिये अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है यह सभी जानते हैं, कि उसी एक उपस्थ इंद्रियका व्यवहार अपनी धर्मपत्नीके संग पुत्र-प्राप्तिके लिये करना उचित व्यवहार है इसलिये इसे इंद्रियप्रकाशक-ज्ञान कहसकते हैं और इसी कर्मको परस्त्रीमें सम्पादन करना अनुचित व्यवहार कहाजाता है।

यदि शंका हो, कि तुमने ऐसा भी तो कहा है, कि जब सुख का चिन्ह इन्द्रियोंके व्यवहारसे जानाजावे तब जानना, कि सत्वगुण की वृद्धि होरही है तो परस्त्रीमें भी तो समान ही सुख होता है ? फिर परस्त्रीमें उसी व्यवहारको सत्वगुणकी वृद्धि क्यों नहीं कहते हो ? तो उत्तर यह है, कि परस्त्रीमें जो सुख है वह सुख ज्ञानीको सुखरूपसे नहीं अनुभव होता अज्ञानीको होता है, ज्ञानके ऊपर अज्ञान का आवरण पडा रहता है इस कारण वह सुख अज्ञानीको बोध होता है पर ज्ञानीको परस्त्रीमें भोगविलास करते समय भी दुःख ही बोध होता है और पश्चात् भी दुःख ही बोध होता है। क्योंकि ज्ञानी समझता है, कि यह अनुचित कररहा हूं, इसके परिणाममें कहीं न कहीं दुःख भोगना ही पडेगा ऐसे दुःखकी पूर्वस्मृति उसके हृदयमें बनी रहती है इस कारण वह अवस्था सुखजनक नहीं है दुःखदायी है। इसलिये परस्त्रीमें जब सुखका अनुभव हो तो जानना चाहिये, कि इस समय फिर रजोगुणकी वृद्धि होरही है न, कि सत्वगुणकी। सो भगवान् स्वयं आगे कहेंगे।

इस श्लोकमें भगवानने जो " उत " शब्दका प्रयोग किया है उसका तात्पर्य यह है, कि जैसे इन ज्ञान और सुखके उदयके चिन्हों से सत्वगुणकी वृद्धिका अनुमान करे ऐसे ही रज और तम इन दोनों गुणोंसे अपनी बुद्धिकी क्षीणताका भी अनुमान करे ॥ ११ ॥

अब भगवान् रजोगुणकी वृद्धिका लक्षण कहते हैं—

**मू०— लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।**
**रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ! ॥ १२ ॥**

**पदच्छेदः—** [ हे ] **भरतर्षभ !** ( भरतेभ्यः ऋषभः श्रेष्ठस्त्वमर्जुन ! ) **लोभः** ( धनादिबाहुल्येऽपि पुनःपुनर्वर्द्धमानोऽभिलाषः । परद्रव्यादिषु लुब्धता ) **प्रवृत्तिः** ( प्रवर्त्तनं सामान्यचेष्टा । निरन्तरं प्रयतमानता ) **कर्मणामारम्भः** ( काम्यनिषिद्धलौकिकमही गृहादिविषयाणां व्यापाराणामुद्यमः ) **अशमः** ( इदं कृत्वा इदं करिष्यामीत्यादिसंकल्पविकल्पानुपरमः ) **स्पृहा** ( सर्वसामान्यवस्तुविषयिणी तृष्णा ) **एतानि** ( उपर्य्युक्तानि रागात्मकानि लिंगानि ) **रजसि** ( रजोगुणे ) **विवृद्धे** ( वृद्धिं गते ) **जायन्ते** ( उत्पद्यन्ते ) ॥ १२ ॥

**पदार्थः—** ( **भरतर्षभ !** ) हे भरतकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन ! ( **लोभः** ) पुष्कल धन होनेपर भी धनके बढानेकी इच्छा फिर ( **प्रवृत्तिः** ) जिसी-तिसी कार्यमें सदा वर्त्तमान रहनेकी प्रकृति फिर ( **कर्मणामारम्भः** ) लौकिक वैदिक किसी प्रकारके कर्मका आरम्भ जो उद्यम तथा ( **अशमः** ) कार्यकरनेसे उपराम न होना वरु करनेकी

इच्छाका बढता चलाजाना और ( स्पृहा ) सर्वसामान्य वस्तुओंकी प्राप्तिकी तृष्णा ( एतानि ) ये सबके सब ( रजसि ) रजोगुणकी ( विवृद्धे ) वृद्धि होनेपर ( जायन्ते ) उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थः— अब निखिलजगदाधार भगवान कृष्णचन्द्र रजोगुणकी वृद्धिहोनेका चिन्ह वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [ लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ] लोभ, प्रवृत्ति, कर्मोंका आरम्भ, अशम और स्पृहा ये जो पांचों रागात्मक विकार हैं ये रजोगुणकी वृद्धिके चिन्ह हैं जिनमें सबसे प्रथम लोभ है मानों इन सब विकारोंमें यही मुख्य है इसीके पीछे २ अन्य चारों भी चलते हैं ।

अब पाठकोंके कल्याणार्थ पहले इन पांचोंका वर्णन संक्षिप्तरूपसे यहां करदिया जाता है—

लोभः— " धनादिबाहुल्येपि पुनःपुनर्वर्द्धमानोऽभिलाषः " अर्थात प्राणीको चाहे कितना भी अर्व, खर्व लों धन प्राप्त हो तो भी बार २ उस धनके बढानेकी अभिलाषा करते जानेको " लोभ " कहते हैं । फिर श्रीशंकराचार्य्य कहते हैं, कि " परद्रव्यादित्सा " अर्थात परायेका द्रव्य देखकर उसे लेलेनेकी जो मनमें तृष्णा उत्पन्न होती है वह भी घोर लोभका स्वरूप है, इसके निमित्त प्राणी न जाने क्या २ उद्योग करता है इसी लोभके वश होकरे नाना प्रकारके कर्मोंमें फँसता है देश २ भ्रमण कर वाणिज्य बढाना अहर्निश सूद बट्टाके जोड़नेमें तथा बही खाताके लिखनेमें कचहरियोंमें लेनदेनका अभियोग सुधारनेमें एवम्प्रकारे नाना प्रकारकी झंझटोंमें उसकी प्रवृत्ति

बनी रहती है यहांतक, कि इस लोभके कारण चोरी, डांका, हिंसा तथा विविध दुष्कर्मोंको करता हुआ अपने पैरोंमें लोहेकी बेडी डलवाकर बन्दीसारमें जा पडता है इतना तो लोभका स्वरूप जानो अब प्रवृत्तिको कहते हैं ।

प्रवृत्तिः— दशों इंद्रिय और चारों अन्तःकरणोंको सदा संसृतिव्यवहारोंमें लगाये रखना । लोभकी यह छोटी भार्या है यह प्रवृत्ति जो ज्ञानके अपायोंमें गणना कीगयी है इसलिये मोक्षकी विरोधिनी है । यथा— " दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः " ( गौतमसूत्र )

अर्थ— दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्याज्ञान ये सब उत्तरसे उत्तर ज्ञानके उपद्रव अर्थात् बाधक हैं इन बाधाओंकी शान्तिसे अपवर्ग लाभ होता है । इस सूत्रसे भी प्रवृत्तिका रागात्मक होना सिद्ध है । यह प्रवृत्ति सदा राग, द्वेष, असूया, ईर्षा, माया, लोभ, मिथ्या, परद्रोह, नास्तिक्य इत्यादि दोषोंको उत्पन्न करनेवाली है । फिर " इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मप्रवृत्तिः " ( गौतमसूत्र ) इच्छा और द्वेषपूर्वक धर्म और अधर्म दोनों प्रकारकी प्रवृत्ति होती है तहां " विहितकर्मणि रागनिबन्धना निषिद्धकर्मणि हिंसादौ द्वेष निबन्धना प्रवृत्तिः । तत्र रागनिबन्धना यागादौ प्रवृत्तिर्धर्मं प्रसूते द्वेषनिबन्धना हिंसादौ प्रवृत्तिरधर्मम् "

अर्थ— धर्म और अधर्म जो दो प्रकारकी प्रवृत्ति हैं तिनमें विहित कर्मोंमें अर्थात् वेदोक्त वा शास्त्रोक्त कर्मोंमें जो प्रवृत्ति है वह

इच्छापूर्वक रागात्मक प्रवृत्ति है और हिंसा आदि निषिद्ध कर्मोंमें जो प्रवृत्ति है वह द्वेषात्मक है तहां रागकरके जो यागादि कर्मोंमें तथा इष्ट, पूर्त, दत्त इत्यादि अर्थात् कूप, बावडी, तडाग, धर्मशाला इत्यादि बनवानेमें जो प्रवृत्ति है वह धर्मको उत्पन्न करनेवाली धर्मरूपा है और द्वेष करके हिंसादिमें जो प्रवृत्ति है वह अधर्मरूपा है। जो हो किसी प्रकारकी प्रवृत्ति क्यों न हो चाहे लौकिक व्यवहारोंकी हो चाहे स्वर्गकी कामनासे वैदिक व्यवहारोंमें हो दोनों रजोगुणसे ही उत्पन्न होती हैं।

**कर्मणामारम्भः**— किसी प्रकारके कर्मका आरम्भ अर्थात लौकिक जो गृह इत्यादिके बनानेमें उद्यम है तथा अन्य किसी निषिद्ध कर्मके करनेमें जो उद्यम है उसे **कर्मारम्भ** कहते हैं। प्रवृत्ति और इस **कर्मारंभमें** इतना ही अन्तर है, कि कर्मारम्भका परित्याग होसकता है पर प्रवृत्तिका त्याग होना किंचित् कठिन है। जैसे किसीने मद्य पीना वा जूआ खेलना आरम्भ किया हो और इन कर्मोंमें उद्यम करने लगगया हो इतनेमें उसे किसी इष्टमित्रने इन कर्मोंको निषिद्ध हानिकारक बताकर रोकदिया, तो वह रुकजासकता है पर जिसकी प्रवृत्ति इन कर्मोंमें बहुत दिनोंतक होगयी है उसे रोकना कठिन है। सो भगवान् पहले भी कहआये हैं, कि मेरा भक्त सर्वारम्भपरित्यागी होता है।

**अशमः**— पहले जो प्रवृत्ति और कर्मारम्भ कहआये हैं इन दोनोंकी अधिकता होजानेसे "**अशम**" उत्पन्न होता है अर्थात जब इन कर्मोंमें किसी प्रकार प्रलोभन मिलजाता है और उसमें चित्त रमजाता है तो प्राणीकी ऐसी इच्छा होती है, कि "इदं

कृत्वा इदं करिष्यामि" आज यह करके कल्ह यह करूंगा अर्थात् कर्म को किये चलाजाता है पर उससे उसके चित्तको उपराम प्राप्त नहीं होता उसके संकल्पविकल्प बढते ही चलेजाते हैं ।

**स्पृहा—** इसके विषय अध्याय २ श्लोक ५६ में वर्णन हो चुका है देखलो । विस्तारके भयसे यहां नहीं लिखागया ।

इसलिये भगवान कहते हैं, कि [**रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ !** ]हे भरतकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन ! इन लोभ इत्यादि पांचों विषयोंको जो मैंने तेरे प्रति कहसुनाया है ये सबके सब रजोगुणकी वृद्धिमें उत्पन्न होते हैं अर्थात् जब इस पांचभौतिक शरीरमें सत्व और तम क्षीणताको प्राप्त होते हैं और रजोगुणकी वृद्धि होती है तब ये उपर्युक्त पांचों विकार इस शरीरमें उत्पन्न होना आरम्भ करते हैं ।

**शंका—** भगवान्ने पहले अ० ३ श्लोक ८ में अर्जुनके प्रति यों कहा है, कि "**नियतं कुरु कर्मत्वं कर्मज्यायो ह्यकर्मणः**" हे अर्जुन! तू अवश्य कर्म किया कर क्योंकि कुछ नहीं करनेसे कर्मोंका करना श्रेष्ठ है और अब इस श्लोकमें कर्मोंका आरम्भ तथा उसकी प्रवृत्ति इत्यादिको रागात्मक कहकर विकारोंमें गणना करते हैं और रजोगुणको अधर्म तथा बन्धनका कारण बताते हैं ऐसा क्यों ?

**समाधान—** भगवान्ने जो पहले कर्म करनेकी आज्ञा दी है उससे निष्काम कर्मोंका प्रयोजन है और यहां जो कहरहे हैं, उससे

सकाम-कर्मोंका प्रयोजन है । भगवानके कहनेका यह तात्पर्य है, कि सकामकर्मोंका आरम्भ वा सकाम-कर्मोंमें प्रवृत्ति तथा स्पृहा इत्यादि निन्दनीय हैं पर भगवत्प्राप्तिनिमित्त कर्मोंका करना निन्दनीय नहीं है सो भगवान बार-बार इस गीताशास्त्रमें कहते चले आरहे हैं । उसी तीसरे अध्यायके नवें श्लोकमें भगवान फिर कहते हैं, कि "यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः । तदर्थं कर्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर" अर्थात भगवानकी आराधना निमित्त जो कर्म हैं उनसे इतर जितने कर्म हैं सब बन्धनके कारण हैं । इसलिये हे अर्जुन ! तू मुक्तसंग अर्थात् निष्काम होकर कर्मों का सम्पादन कियाकर ।

यहां इस श्लोकमें जो कर्मारम्भ है वा प्रवृत्ति इत्यादिका कथन है सब सकाम-कर्मोंके विषय हैं इसलिये शंका मत करो ॥ १२ ॥

अब भगवान आगे तमोगुणकी प्रवृत्तिका चिन्ह बताते हुये कहते हैं—

**मू०— अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।**
**तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ! ॥ १३**

पदच्छेदः— कुरुनन्दन ! ( हे कुरुकुलानन्दवर्द्धनार्जुन ! ) अप्रकाशः ( सत्वकार्यप्रकाशानुदयः । कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकाभावः । विवेकभ्रंशः ) च, अप्रवृत्तिः ( अनुद्यमः । प्रवृत्त्यभावः ) प्रमादः ( अनवधानता । तत्कालकर्तव्यत्वेन प्राप्तस्यार्थस्यानुसन्धानाभावः । कर्तव्येऽकर्तव्यताबोधेन ततो निवृत्तिः । अकर्तव्ये कर्तव्यताबोधेन तत्र प्रवृत्तिश्च ) च, मोहः ( देहगेहादौ मिथ्याभिनिवेशः । मूढता ) एव

( निश्चयेन ) एतानि, तमसि ( तमोगुणे ) विवृद्धे ( वृद्धिं गते ) जायन्ते ( उत्पद्यन्ते ) ॥ १३ ॥

**पदार्थः—** ( कुरुनन्दन ! ) हे कुरुकुलावतंस अर्जुन ! ( अप्रकाशः ) अविवेकरूप अन्धकार ( च ) तथा ( अप्रवृत्तिः ) अनुद्यम अर्थात् मारे आलस्यके किसी प्रकारका उद्यम न करना ( प्रमादः ) कर्तव्य कार्यको तत्काल करनेका अनुसन्धान न रखना ( च ) फिर ( मोहः ) घर बार, शरीर इत्यादिमें मिथ्या अभिमान (एव) निश्चय करके ( एतानि ) ये सबके सब ( तमसि, विवृद्धे ) तमोगुणकी वृद्धि होनेमें ( जायन्ते ) उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

**भावार्थः—** अब जगज्जाड्यविनाशक भगवान् श्रीकेशव तमोगुणके चिन्होंका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [ **अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च** ] अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह ये चारों सदासे एकसाथ तमोगुणियोंके शरीरमें निवास करते हैं। जैसे शयन करनेकी खाटके चार पाये होते हैं इसी प्रकार तमोगुण रूप खाटके ये चार मुख्य पाद हैं सो आलसीका शरीर इसी चार पादवाली खाटपर मृतकके समान पडा रहता है।

पाठकोंके कल्याणार्थ ये चारों यहां स्पष्टरूपसे वर्णन करदिये जाते हैं सुनो !

१. अप्रकाशः— सत्वगुणके लक्षणोंमें जो प्रकाशका वर्णन करआये हैं उसीके प्रतिकूल इस अप्रकाशको समझना चाहिये अर्थात् इंद्रियोंमें जो उचित अनुचित कार्यके समझनेका प्रकाश है जिसके द्वारा

विधि और निषेध पाप, पुराय, धर्म, अधर्मका बोध होता है तिस प्रकाशका जब अभाव होजाता है तब उसी मूढ और अविवेकमय दशाको अप्रकाश कहते हैं। जैसे अन्धकारमें ऊंचे वा खाली स्थान अथवा सर्प, बिच्छू इत्यादि क्रूर जीव देखनेमें नहीं आते अथवा अपने हाथसे अपने घरमें रखीहुई वस्तु नहीं सूझती इसी प्रकार इन्द्रियोंपर यह अप्रकाशका आवरण पडजानेसे भले बुरे कर्म कुछ भी समझमें नहीं आते।

जैसे अमावस्याकी घोर अन्धकाररात्रिमें न सूर्यका ही प्रकाश रहता है और न चन्द्रमाका ही प्रकाश रहता है। इसी प्रकार सर्वप्रकाशोंसे शून्य दशाको अप्रकाशके नामसे पुकारते हैं। मनुष्य इस अप्रकाशमें पडकर " बोधका " एक पग भी आगे नहीं धरता, किसी इन्द्रियसे कुछ भी उचित व्यवहार नहीं करसकता, अनुचित व्यवहारोंकी भी परवा नहीं करता ऐसी ही दशाका नाम अप्रकाश है यह तमोगुणरूप खाटका पहला पाया है।

२. अप्रवृत्तिः— पहले जो प्रवृत्तिका वर्णन कर आये हैं उसके अभावको अप्रवृत्ति कहते हैं। बहुतेरे प्राणी इस अप्रवृत्तिको निवृत्ति समझते होंगे पर ऐसा नहीं इन दोनोंमें पृथ्वी आकाशके समान अन्तर है। प्रवृत्तिकी एक बारगी जो प्रतिकूल दशा है अर्थात् सकामकर्मोंमें नहीं प्रवृत्त होना है उसे निवृत्ति कहते हैं जो मोक्ष-तक पहुंचानेवाली है। पर अप्रवृत्ति तो प्रवृत्तिके अभावको कहते हैं जहां न तो कर्मोंसे निवृत्ति होती है और न कर्मोंके करनेमें स्फूर्ति होती

है। जैसे किसी कुष्टग्रस्तके पीछे मिष्टान्नका टोकरा धरा हो तो उसे मिष्टान्न खानेकी अभिलाषा तो बनी रहती है पर वह मारे आलस्य और व्यथाके थोडा भी पीछे मुडकर उस टोकरेसे मिष्टान्नका एक कण भी निकाल कर नहीं खासकता सो बिना कुष्टग्रस्त हुए जिसकी ऐसी दशा हो उसी दशाको अप्रवृत्ति कहते हैं। यह तमोगुणरूप खाटका दूसरा पाया है।

३. प्रमादः— अनवधानताको कहते हैं अर्थात् " कर्तव्येऽकर्तव्यताबोधेन ततो निवृत्तिः। अकर्तव्ये कर्तव्यताबोधेन तत्र प्रवृत्तिश्च प्रमादः " ( वाचस्पतिः ) अर्थात् जो कार्य करने योग्य है उसे अकर्तव्य जानकर त्यागदेना तथा जो अकर्तव्य है उसे कर्तव्य जानकर करना प्रमाद कहलाता है। " कर्तव्याकरणं यत्राकर्तव्यस्याथवा क्रिया। उच्यते द्वितयं तत्र प्रमादोऽनवधानता " अर्थ स्पष्ट है। यह तामसी खाटका तीसरा पाया है।

४. मोहः— अपने शरीरमें तथा अपने पुत्र, कलत्र, धन और सम्पत्तिमें ऐसा अभिमान होना, कि ये सब मेरे हैं और मैं इनका हूं इसीको मोह कहते हैं यही मूढता है यह तामसी खाटका चौथा पाया है।

ये चारों सदा एक साथ निवास करते हैं और तामसी हैं इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि [ **तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन!** ] हे कुरु ऐसे वीरको स्वर्गमें हर्षित करनेवाला अर्जुन! ये जो अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह कथन कियेगये हैं ये

तमोगुणकी वृद्धिमें उत्पन्न होते हैं अर्थात् जब इस शरीरमें तमोगुण बढने लगजाता है तब ये चारों दशाएं उत्पन्न होने लगजाती हैं। तमोगुणके खेतके उपजेहुए नाज ये ही चारों हैं जिनसे तामसी शरीर पुष्ट होता है।

पाठकों तथा अन्य सर्वसाधारण प्राणियोंको यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये, कि जितने शरीर इस ब्रह्माण्डमें प्रकृतिद्वारा उत्पन्न हैं सबोंमें ये ही तीनों गुण जो श्लोक ११ और १३ में कथन किये गये वर्त्तमान रहते हैं अर्थात् प्रत्येक प्राणीके इस शरीररूप पिण्डमें ये ही तीनों गुण मिलेहुए हैं। पूर्वजन्मार्जित पाप पुण्यके प्रभावसे किसीमें सत्वगुणकी किसीमें रजोगुणकी और किसीमें तमोगुणकी अधिकता होती है। बुद्धिमान् उपर्युक्त तीनों श्लोकोंको ध्यानपूर्वक पढ़नेसे ऐसा समझ सकता है, कि उसके शरीरमें किस गुणका अधिक अंश है? इसी कारण कोई सात्विक, कोई राजसी और कोई तामसी स्वभाववाला कहाजाता है।

यों तो कर्मानुसार तीनों गुणोंकी वृद्धि और क्षीणता अपने २ समयपर होती ही रेहती है पर जिसमें जिस गुणका अधिक अंश होजाता है वह गुण उसके साथ सदा बनारहता है उसके सब व्यवहार, बातचीत, रहन-सहन, चालचलन, मिलन-जुलन, खानपान सब अपने गुणके अनुसारही होते हैं और उसका स्वभाव भी अपने गुणके अनुसार ही होता है। सो भगवान् पहले भी केह आये हैं, कि प्राणी अपने स्वभावहीके अनुसार कर्मोंको करता है। अर्थात् जैसी उसकी प्रकृति होती है तदनुसारही कर्मोंका सम्पादन करता है।

पर इस दशामें भी यह विशेषता है, कि किसी भी गुणवाला स्वभाव क्यों न हो अर्थात किसी गुणकी प्रधानता उसमें क्यों न हो पर जब तीनोंमेंसे किसी एक गुणकी वृद्धि होती है तब वह गुण उसकी प्रधानताको भी दाबकर उस समय उससे भला बुरा करवा ही लेता है। तात्पर्य यह है, कि कैसा भी सात्विक स्वभाववाला प्राणी क्यों न हो पर जब उसके शरीरमें किसी समय अवकाश पाकर रजोगुणकी वृद्धि होगी तब उसका स्वाभाविक सत्वगुण दाबकर नीचे लेजावेगी। जैसा, कि इतिहासोंमें सुनाजाता है, कि नारद, पाराशर इत्यादि ऐसे सात्विक स्वभाववाले महात्माओंके शरीरमें अकस्मात् रजोगुणकी वृद्धि होनेसे कामने अपनी प्रबलता दिखायी और सत्वगुणको दबा-लिया। इसी प्रकार अन्य गुणोंकी दशाको भी जानना ॥ १३ ॥

अब भगवान अगले दो श्लोकोंमें यह विषय कथन करेंगे, कि इन तीनों गुणोंमें किसी एक गुणकी वृद्धिके समय यदि प्राणी मृत्युको प्राप्त हो तो उसकी क्या गति होती है ?

**मू०– यदा सत्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् !**
**तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥**

**पदच्छेदः**— देहभृत् (देहाभिमानी जीवः) यदा ( यस्मिन् मरणावसरे ) तु ( निश्चयेन ) सत्वे ( सत्वगुणे ) प्रवृद्धे ( उद्भूते) प्रलयम् ( मरणम् ) याति (गच्छति) तदा ( तस्मिन् काले ) उत्त-मविदाम् ( महदादितत्वविदाम्। हिरण्यगर्भाद्युपासकानाम्। देवा-नाम् ) अमलान् ( मलरहितान्। निर्दुःखान्। रजस्तमःप्रतिबन्ध-

राहित्येन सत्वाधिक्यात् प्रकाशमयान् ) लोकान् ( सुखोपभोगस्थान-विशेषान् ) प्रतिपद्यते ( प्राप्नोति ) ॥ १४ ॥

**पदार्थः**— ( देहभृत् ) यह देहाभिमानी जीव ( यदा ) जिस समय ( तु ) निश्चय करके ( सत्वे प्रवृद्धे ) सत्वगुणकी वृद्धि में ( प्रलयम् ) मृत्युको ( याति ) प्राप्त होता है ( तदा ) तब यह जीव ( उत्तमविदाम् ) महत्तत्व अथवा हिरण्यगर्भकी उपासना करनेवालोंके ( अमलान् ) निर्मल प्रकाशमान ( लोकान् ) लोकोंको अर्थात् देवादि लोकोंको ( प्रतिपद्यते ) प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

**भावार्थः**— आनन्दनिकेतन भगवान् श्रीव्रजेन्द्र पहले कथन करआये हैं, कि कर्मानुसार अवकाश पाकर शरीरधारियोंके शरीरमें इन तीनों गुणोंकी वृद्धि क्रमशः हुआ करती है अब ऐसी वृद्धिके समय यदि प्राण छूटजावे तो प्राणियोंकी क्या गति होती है ? सो वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [ **यदा सत्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्** ] कोई प्राणी यदि सत्वगुणकी वृद्धिके समय मृत्यु-को प्राप्त होवे अर्थात् ये तीनों गुण जो एकके पश्चात् दूसरे अपने-अपने समयपर इस शरीरधारीके शरीरमें बलपूर्वक उदय होआया करते हैं इनमें सत्वगुण जो सब गुणोंमें ज्ञानरूप तथा प्रकाशमान है तिसकी वृद्धि जब इस शरीरमें होने लगजावे और उसी समय मृत्यु पहुंचजावे तो मरनेवालेकी क्या गति होगी ? सो भगवान कहते हैं, कि [ **तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते** ] तब मरनेवाला उत्तमविद् प्राणियोंके निर्मल लोकोंको प्राप्त होता है। अर्थात्

वे पुरुष उत्तमविद् हैं। उत्तम जो हिरण्यगर्भ तिसके जाननेवाले हैं तिनके लोकोंमें अथवा उत्तम जो भगवान् साक्षात् नारायण तिनके जाननेवालोंके लोकोंमें अर्थात् ध्रुवादि भक्तोंके लोकोंमें प्राप्त होते हैं ये लोक कैसे हैं, कि अमल हैं अर्थात् रज और तमके विकारोंसे रहित, परम शुद्ध और प्रकाशमान हैं जहां नाना प्रकारके अलौकिक-सुखोंके भोगोंकी प्राप्ति होती है ॥ १४ ॥

अब भगवान् रज और तमके उदयमें प्राण छूट जानेवालोंकी गति कहते हैं।

**मू०— रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।**
**तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥**

**पदच्छेदः–** [ देहभृत् ] **रजसि** ( रजोगुणे ) **प्रलयम्** ( मरणम् ) **गत्वा** ( प्राप्य ) **कर्मसंगिषु** ( कर्मासक्तियुक्तेषु मनुष्येषु ) **जायते** ( उत्पद्यते ) **तथा** ( तद्वदेव ) **तमसि** (तमोगुणे) **प्रलीनः** ( मृतः ) **मूढयोनिषु** ( पश्वादियोनिषु ) **जायते** ( उत्पद्यते ) ॥ १५ ॥

**पदार्थः—** देहाभिमानी जीव ( **रजसि** ) रजोगुणकी वृद्धि होनेमें ( **प्रलयम्** ) मरणको ( **गत्वा** ) प्राप्त होकर ( **कर्मसंगिषु** ) कर्मोंमें आसक्त मनुष्ययोनिमें ( **जायते** ) उत्पन्न होता है ( **तथा** ) इसी प्रकार ( **तमसि** ) तमोगुणकी वृद्धि होतेसमय ( **प्रलीनः** ) मृत्युके मुखमें लय होजानेवाला प्राणी ( **मूढयोनिषु** ) पशु, पक्षी, कीट पतंग तथा स्थावर वा चाण्डालयोनिमें ( **जायते** ) उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

**भावार्थः—** जैसे सर्वगुणातीत आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रने पूर्वश्लोकमें सत्वगुणकी वृद्धिमें मरनेवालोंकेलिये उत्तम लोकोंकी प्राप्ति बतायी है ऐसे अवशेष दोनों गुणोंकी वृद्धिमें मरनेवाले प्राणियोंकी गति वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [ **रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते** ] रजोगुणकी वृद्धिमें यदि यह देहाभिमान रखने वाला जीव मृत्युको प्राप्त होजाता है तब पंचाग्निके * पांचों स्थानोंसे फिरताहुआ किसी ऐसे मनुष्यकी योनिमें प्राप्त होता है जिसको कर्मोंसे बहुत ही प्रीति होती है अर्थात् लौकिक वैदिक जितने कर्म इस गीताके प्रथम षट्कमें वर्णन करआये हैं उनमें किसी विशेष कर्ममें उसकी प्रीति होती है और सदा उनहीं कर्मोंमें उनके फलकी इच्छासे अर्थात् इस लोकके वा स्वर्गलोकके विषयभोगकी इच्छासे वाणिज्य इत्यादि लौकिककर्म अथवा श्रौत, स्मार्त इत्यादि वैदिककर्मोंमें सदा जन्मसे मरण पर्यन्त लगा रहता है कारण यह है, कि पूर्वजन्ममें वह रजोगुणकी वृद्धिमें मरणको प्राप्त हुआ है।

भगवान् कहते हैं, कि [ **तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते** ] इसी प्रकार जो प्राणी तमोगुणकी वृद्धिमें पंचत्व ( मरण ) को प्राप्त होता है वह पंचाग्नि होताहुआ किसी मूढ योनि ( चाण्डालादि ) में अथवा पशु, पक्षी, स्थावर इत्यादि योनियोंमें उत्पन्न होता है।

---

* **पांचों स्थान**—आकाश, पर्जन्य, अन्न, रेत, गर्भ ये ही पांचों स्थान हैं। देखो अ० ३ श्लो० ३३।

शंका— यहां जो भगवान्ने १४, १५ दोनों श्लोकोंमें यों कहा, कि मरणकालमें जिस गुणकी वृद्धि होती है अर्थात् तीनों गुणोंमें जो गुण वृद्धिको प्राप्त होता है तदाकार देहधारियोंकी ऊंची नीची गति होती है तहां शंका यह है, कि जो प्राणी अपने जन्मभर सत्वगुणका आचरण करताआया है जिसके शरीरमें सात्विक व्यवहारोंकी अधिकता होती है अर्थात् अधिकांश जिस मनुष्यमें सत्वगुणकी वृद्धि होती रही है उसमें किसी विशेष कारणसे यदि मरते समय तमोगुणकी वृद्धि होजावे और वह किसी चाण्डालयोनिमें वा पशु, पक्षीमें जन्म लेलेवे तो आयुष्पर्यन्त सत्वगुणी आचरणका उसे क्या फल हुआ ? इसीके प्रतिकूल जिसकी आयुभरमें रजोगुण और तमोगुणकी अधिकांश वृद्धि होतीरही है अर्थात् जो राजसी और तामसी प्रकृतिवाला है उसमें अनायास मरणकालमें क्षणिक सत्वगुणकी वृद्धि होगयी तो क्या वह पापी देवलोकमें जाकर देवताओंके सुखोंको भोगने लगजावेगा? तब तो यह महा अनर्थ होजावेगा ऐसा क्यों ?

समाधान— जैसा, कि तुमने इन श्लोकोंका अर्थ समझा है वैसा नहीं है और यदि यही तात्पर्य हो तो भी किसी प्रकारकी हानि नहीं है ।

अब दोनों वार्ताओंको तुम्हें समझाता हूं सुनो ! प्रथम तो यह, कि भगवान् ऐसा नहीं कहते, कि आयुष्पर्यन्त रज और तममें रहनेवालोंको मरणकालमें सत्वगुणकी वृद्धि हो तो देवलोकोंके सुखको प्राप्त करें । वह भगवान् तो इतना ही कहते हैं, कि मरणकालमें यदि सत्वगुणकी वृद्धि हो तो उत्तम गति हो । मरणकाले एक ऐसा विशेष

काल है, कि आयुष्पर्यन्त जो प्राणी जिस वृत्तिमें अधिक विहार करेगा उसी वृत्तिकी वृद्धि मरणकालमें उपस्थित होगी और वैसा ही स्वरूप मरणके समय उसके सम्मुख आखडा होगा । अर्थात् जिस गुणकी वृद्धि अधिकांश आयुष्पर्यन्त होगी उसी गुणकी वृद्धि मरण-कालमें होगी अन्यथा उसके प्रतिकूल कदापि नहीं होसकती ।

इस कारण ऐसा नहीं होसकता, कि पुण्यात्मा नरक और पापात्मा स्वर्ग चलाजावे । इसी विषयको पुष्ट करनेके निमित्त भगवान् पहले भी अ० ८ श्लोक ६ में कहआये हैं, कि " यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् " इस श्लोकमें तुम्हारी शंकाका पूर्ण प्रकार समाधान करदियागया है उसे देखलो और शंका मत करो ।

इसी कारण इन दोनों श्लोकोंका भाष्य करते हुए श्रीस्वामी अभिनवगुप्ताचार्यने स्पष्टकर जो कुछ कहदिया है पाठकोंके बोधार्थ इस स्थानमें ज्योंकात्यों लिख दिया जाता है " यदेति— यदा समग्रे-णैव जन्मनानवरतसात्विककव्यापाराभ्यासात्सत्वं विवृद्धं भवति तदा प्राप्यप्रलयस्य शुभलोकावाप्तिः । एवं जन्माभ्यस्तराजस-कर्मणः प्रयाणाद्धि ( शिष्टो ) मिश्रोपभोगाय मानुष्याप्तिः । तथा तेनैव क्रमेण यदा समग्रेण जन्मना तामसमेव कर्माभ्यस्यते तदा नरतिर्य्यग्वृक्षादिदेहेषूत्पद्यते " इसका अर्थ ज्योंका त्यों वही है जो पूर्वमें कह आये हैं । अर्थात् जन्म पर्यन्त जिस गुणका अधिक संग रहेगा मरणकालमें वही सम्मुख आवेगा और तदाकार गति होगी ।

यह तो मैंने तुमको भगवानका अभिप्राय अपने मतके अनुसार एक आचार्यको अपना साक्षी देकर वर्णन किया।

अब यदि भगवान्के कहनेका तात्पर्य ऐसा भी समझा जावे, कि चाहे जन्मपर्यन्त किसी भी गुणका अभ्यासी क्यों न हो पर मरणकालमें जिस गुणकी वृद्धि होगी तदाकारे ही गति होगी तो ऐसा अर्थ होनेसे भी किसी प्रकारकी हानि नहीं है एकाग्रचित्त होकर सुनो!

बार २ इस गीताशास्त्रमें तथा अनेक शास्त्रोंमें संचित, प्रारब्ध और आगामी ( क्रियमाण ) ये तीनों प्रकारके कर्म वर्णन किये गये हैं और श्रुतियोंसे तथा स्मृतियोंसे यह सिद्ध किया गया है, कि यह शरीर जो वर्तमानकालमें प्राप्त है वह "**यावत् चिरं स्यादथ सम्पत्स्यते**" इस श्रुतिके वचनानुसार उतने ही कालतक वर्त्तमान रहता है जबतक प्रारब्धकर्मोंका भोग है। प्रारब्धके भोगोंकी समाप्ति होनेके साथही यह शरीर पतन होता है इसके पात होते समय इसकी तीन गति होति हैं साक्षात्मुक्ति, क्रममुक्ति और पुनर्जन्मके लिये पञ्चाग्नि। यदि ज्ञान प्राप्तकर भगवत्स्वरूपका जीते २ लाभ किया है तो उसे दोनों मुक्तियोंमें किसी एक मुक्तिकी प्राप्ति होती है और वह परमपदको प्राप्त होता है पर जो कर्मबन्धनोंमें पड़ा हुआ अनेक जन्मोंसे कर्मोंके झकोडेमें डांवाडोल होरहाहो उसके मरणके समय प्रारब्धकी समाप्ति और संचितका उदय होता है क्योंकि अगला शरीर जो इसे प्राप्त होगा वह संचितकर्मोंसे जितने उग्र वा मन्द कर्म निकलकर प्रारब्ध बनते हैं उन कर्मोंके अनुसार मरनेवालेकी बुद्धिकी प्रेरणा क्षणमात्र इसी शरीरमें होजाती है अर्थात् सात्त्विक, राजस वा तामस तीनोंमेंसे

संचितके सम्मुख हुए प्रथम जिस गुणकी प्रेरणा हुई तदाकार मृतककी गति आरम्भ होजाती है। इसी कारण यह निश्चय है, कि मरनेवाला इस जन्ममें जन्मभर चाहे किसी प्रकारका आचरण करचुका हो पर यदि संचित उस गुणके प्रतिकूल शरीरकी प्रेरणा करेगा तो उस समय जन्मभरके गुणकी वृद्धिको बांधकर उसी गुणकी वृद्धि होगी जिसकी संचितने प्रेरणा की है। यदि इस जन्मभरके आचरण किये हुए गुणके साथ संचितके गुणकी प्रेरणाका मेल होजावे तब तो उस गुण को अधिक बल मिले अर्थात् मरनेवालेके जन्मभरके गुणकी वृद्धि भी सात्विक हो पर ऐसा होना सर्वकालमें निश्चय नहीं है। क्योंकि श्रुति स्मृतियोंसे ऐसा निश्चय नहीं किया हुआ है, कि प्राणियोंका अगला शरीर इस वर्त्तमान शरीरके कर्मानुसार बनेगा ऐसा नहीं वरु श्रुति स्मृतियोंका तो यों सिद्धान्त है, कि इस वर्त्तमान शरीरके पाप पुण्य जो कुछ कर्म हैं वे इस जीवके संचितकर्ममें जा जुटते हैं, उस संचितसे जिस किसी पिछले जन्मका कर्म उग्र होता है वह आगे आकर प्रारब्ध बनकर प्राणीके शरीरमें किसी गुणकी प्रेरणा मरणकालमें कर उसे उस शरीरमें लेजाता है। जैसे किसी जन्मभरके कामी वा लोभी जीवको अपने संचितके अनुसार आगे देवयोनिमें जाना है तो यद्यपि आयुष्पर्यन्त उसके शरीरमें रजोगुण ही की वृद्धि होरही थी तथापि मरणके समय सञ्चितके बलसे रजोगुणकी समाप्ति और सत्वगुणकी वृद्धि हो ही जावेगी पश्चात् सत्वगुणकी वृद्धिमें उसका मरण होनेसे वह देवलोकको प्राप्त होजावेगा। सो देवलोक उसके इस वर्त्तमान जन्मके कर्मोंका फल नहीं है वरु अनेक पिछले

जन्मोंके कर्मोंमें किसी एक वा दो चार जन्मोंके शुभ कर्मोंके मेलका फल । है शंका मत करो ॥ १५ ॥

किस गुणकी वृद्धिसे किस प्रकारेका फल इस प्राणीको अगले जन्ममें लाभ होता है ? सो भगवान् अगले श्लोकमें कहते हैं—

मू०—**कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम् ।**
**रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥**

**पदच्छेदः**— सुकृतस्य ( सात्विकस्य ) कर्मणः ( कार्यस्य ) सात्विकम् ( सत्वगुणप्रधानम ) निर्मलम् ( दुःखाज्ञानमलशून्यम । ज्ञानवैराग्यादिकम । प्रकाशबहुलम् ) फलम ( परिणामम ) आहुः ( कथयन्ति ) [ परमर्षयः ] रजसः ( राजसस्य कर्मणः ) फलम्, तु, दुःखम ( क्लेशम ) [ आहुः ] तमसः ( तामसस्य कर्मणोऽधर्मस्य ) फलम्, अज्ञानम् ( मूढत्वम ) [ आहुः ] ॥ १६ ॥

**पदार्थः**— ( सुकृतस्य कर्मणः ) जितने सात्विक पुण्यात्मक कर्म हैं तिनका ( सात्विकम ) सत्वगुणी अर्थात् सुखदायी तथा ( निर्मलम् ) रज तमके विकारोंसे रहित परम शुद्ध ( फलम् ) फल होता है ऐसा शिष्ट और परमर्षिगण ( आहुः ) कथन करते हैं इसी प्रकार ( रजसः ) रजोगुणी सकाम कर्मोंका ( फलम ) फल ( तु ) निश्चय करेके ( दुःखम ) दुःख ही महर्षियोंने कथन किया है, कि ( तमसः ) तमोगुणी कर्मोंका ( फलम ) फल ( अज्ञानम् ) मूढता है ऐसे कपिलादिकोंने कथन किया है ॥ १६ ॥

भावार्थः— अब देवाधिदेव भगवान् कमलापति मरणकाल के पश्चात् इस जन्मके त्रिगुणात्मक कर्मोंमें किस गुणके कर्मोंका क्या फल अगले जन्ममें होता है ? सो संक्षिप्तरूपसे वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [ **कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम्** ] सुकृत कर्मोंके निर्मल सात्विक फल होते हैं।

अब सुकृत किसे कहते हैं ? सो सुनो ! ज्ञान वैराग्यादिकी प्राप्ति निमित्त क्या-क्या उचित व्यवहारोंका करना ? इस शरीरयात्राकी पूर्ति कैसे करनी ? स्त्री, पुत्रादिके संग किस व्यवहारसे रहकर निरसंग रहना ? किस इंद्रियसे क्या उचित कार्य लेना ? पुरजन, परिजन तथा अपने कुटुम्बियोंके मध्य कैसे नम्रतापूर्वक निवास करना ? निज और 'पर' को समानभावसे देखतेहुए किस प्रकार सन्तुष्ट रखना ? दरिद्रोंके दुःखोंपर दयाकर कैसे उनको सुख पहुंचाना ? जो कोई अपनेसे कुछ मांगबैठे उसे कैसी उदारता दिखलाकर उसकी अभिलाषाकी पूर्ति करनी ? भगवत्प्राप्ति निमित्त जो श्रुति स्मृतियोंने नाना प्रकारके यत्न कहे हैं उनमेंसे दो एकके लाभके लिये किन महात्माओंकी शरण जाकर पूछना ? यदि एक ही रोटी कर्मवश किसी दिन खानेको मिलजावे तो उसकी आधी किस प्रकार भूखोंको खिला आधी आप खाकर सन्तुष्ट रहना ? बहुतसे कोट, बूंट, हैट, सूट इत्यादिको अथवा रेशमी सुनहरी लेहरदार चादरोंको न ओढकर सीधेसादे कपडोंसे आवश्यक-मात्र सरेदी गरमीके अनुसार शरीर ढककर कैसे समय बितादेना ? दूसरोंकी गाडी, हस्ती, अश्व, शिविका इत्यादि देखकर उनकी अभिलाषा न करके किस प्रकार चींटियोंको बचातेहुए पांव-पांव चल-

कर मार्ग काटना ? दूधके फेनके समान श्वेत तोशकोंसे सजे सजाये पर्यंकपर सुख चैनसे लेटनेकी इच्छा न करके अपनी फटी कमली तानकर बरगदके वृक्षके नीचे घासपर लेटकर अपनी भुजाका तकिया बनाये हुए सुखपूर्वक कैसे नींद लेना ? हानि, लाभ, मान, अपमानमें समबुद्धि रहकर किस प्रकारे आनन्दपूर्वक समय बिताना ? ऐसे सात्विक कर्मोंका जो साधन है उसे सुकृत कहते हैं । सो जिसने आज इस जन्ममें सात्विक कर्मोंका साधन किया है उसे मरणके समय सात्विक गुणोंकी वृद्धि होगी और उसी वृद्धिमें प्राण छूटनेसे सम्भव है कि अगले जन्ममें उसको सात्विक फल प्राप्त होवे अथवा अन्य किसी आगे आनेवाले जन्ममें सात्विक फल मिले ।

अब भगवान् कहते हैं, कि [ **रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्** ] राजसी कर्मोंका फल दुःख और तामसी कर्मोंका फल अज्ञान है अर्थात् जो प्राणी जन्मभर राजसी कर्मोंको करताहुआ आयु बितावेगा अर्थात्, काम क्रोधादि विकार जो रजोगुणसे उत्पन्न हैं इनके वशीभूत होकर नाना प्रकारकी कामनाओंमें फँसकर भिन्न-भिन्न प्रकारके लौकिक कर्मोंका ही अनुष्ठान करता रहेगा । विषयानन्द में मग्न राग, तान, वेश्यादि गमन, मद्यपान, द्यूत ( जूआ ) दंगे, झगडे, रेग; द्वेष करके किसीको अपना और किसीको बिराना समझनेमें समय बितावेगा क्रोधवश किसीका घर फूंकेगा तथा किसीको विष देगा अपने लाभ और परायेकी हानिमें दिन बिताता रहेगा वह तमोगुणके फल जो दुःखसमूह तिनका भागी होगा ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि उसके समीप कहीं भी निवृत्तिका नाम नहीं होगा केवल प्रवृत्तिमें बँधा रहेगा। उसीके साथ २ लोभ अशम और स्पृहा इत्यादि भी बनी रहेंगी। लोभवश किसीका धन लूटेगा वा चुरालावेगा, बहुत धन होनेपर भी शान्ति न पावेगा। ऐसे प्राणियोंको मरणके समय रजोगुणकी वृद्धि होगी और उसी वृद्धिमें प्राण छोड जो अगला कोई जन्म पावेगा तिसमें भी उसे दुःख ही दुःख भोगना पडेगा; यही भगवानके कहनेका मुख्य अभिप्राय है।

शंका—रजोगुणका फल तो सुख भी है सो वैदिककर्मोंके अनुष्ठानसे स्वर्गादि जो सुख लाभ होते हैं वे तो रजोगुणके फल हैं फिर इसका फल केवल दुःख ही क्यों कहते हो?

समाधान– प्राणी स्वर्गसुख भोगलेनेके पश्चात् फिर नीचे गिरादिया जाता है और यदि सुख हो भी तो वह सुख बहुत दुःख के साथ मिश्रित रहता है; अर्थात् सुख तो थोडा ही रहता है पर दुःख बहुत रहता है। जैसे एक बोरी रेतीमें कहीं २ आधा रत्ती वा एक माशा या एक तोला शक्कर मिलीहुई हो और उसे फांकना पडे ऐसाही रजोगुणी सुखको जानना।

अब कहते हैं, कि " अज्ञानं तमसः फलम् " तामसी कर्मों का फल अज्ञान है। सो प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि जो लोग तमोगुणी होनेके कारण सदा प्रमाद, आलस्य, निद्रा इत्यादिमें पडे रहते हैं उन को न तो कहीं सत्संग ही लाभ होता है और न विद्वान् ही होते हैं वरु उनका मस्तिष्क पशुओंके समान जडवत् बना रहता है। इसी कारण वे तमोगुणकी वृद्धिमें प्राण छोडनेके पश्चात् पशु, पक्षी

इत्यादि योनियोंमें जन्म पाकर अज्ञानताका फल भोगते हैं। क्योंकि पशु पक्षियोंको ज्ञान हो ही नहीं सकता।

यदि किसी कर्मके संयोगसे तामसी प्राणी मनुष्य योनिमें पड़ गया तो चाण्डालादिके घरमें जन्म लेनेसे वह मूढ ही बना रहता है। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि तमोगुणका फल "अज्ञान" है ॥ १६ ॥

अब भगवान् यह दिखलाते हैं, कि पूर्वजन्मकी किस वृद्धिके अनुसार परजन्ममें कौनसा विशेषफल उत्पन्न होता है?

**मू०— सत्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।**
**प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥**

**पदच्छेदः—** सत्वात् ( सत्वगुणात् ) ज्ञानम् ( संसार-विवेकनैपुण्यम् ) सञ्जायते ( उत्पद्यते ) च, रजसः ( रजोगुणात् ) लोभः ( विषयकोटिप्राप्त्याऽपि निवर्त्तयितुमशक्योऽभिलाषविशेषः ) एव ( निश्चयेन ) तमसः ( तमोगुणात् ) प्रमादमोहौ ( अनवधानता च अहं ममेति मिथ्याभिनिवेशश्च तौ द्वौ प्रमादमोहौ ) भवतः ( उत्पद्येते ) अज्ञानम् ( अप्रकाशः । मूढता ) च, एव ( निश्चयेन ) भवति ॥ १७ ॥

**पदार्थः—** ( सत्वात् ) सत्वगुणसे ( ज्ञानम् ) सब वस्तु तत्त्वोंका यथार्थ बोध अर्थात् भले बुरेका विवेक ( सञ्जायते ) उत्पन्न होता है ( च ) फिर ( रजसः ) रजोगुणसे ( लोभ एव )

निश्चय करके लोभ उत्पन्न होता है तथा ( तमसः ) तमोगुणसे ( प्रमादमोहौ ) प्रमाद और मोह ये दोनों विकार ( भवतः ) उत्पन्न होते हैं ( अज्ञानञ्च ) और इसी तमोगुणसे अज्ञानता भी ( एव ) निश्चय करके उत्पन्न होती है ॥ १७ ॥

भावार्थ— पूर्वजन्मके किस गुणके अभ्याससे परजन्ममें क्या २ सुख दुःख होते हैं ? सो वर्णन करते हुए सर्वान्तर्य्यामी भगवान् करुणानिधान कहते हैं, कि [ **सत्वात् सञ्जायते ज्ञानम् रजसो लोभ एव च** ] सत्वगुणसे सांसारिक वस्तुतस्तुओंका यथार्थ ज्ञान होता है और रजोगुणसे लोभ उत्पन्न होता है अर्थात् सत्वगुणसे इन्द्रियों तथा अन्तःकरणमें एक प्रकारका ऐसा प्रकाश उत्पन्न होता है जिससे सब पदार्थोंका यथार्थ विवेक और भला, बुरा, पापपुण्य, धर्माधर्मका पूर्ण परिचय हृदयमें उत्पन्न होजाता है । ऐसा होते-होते अर्थात् सत्वगुणका बरम्बारे अभ्यास होते-होते प्राणीका स्वभाव सात्विकी होजाता है और उसके मनमें आत्मज्ञान प्राप्त करनेकी अभिलाषा उत्पन्न होती है। एवम्प्रकारे ज्ञानियोंकी मण्डलीमें बैठनेका अधिकारी होता है तहां इसको प्रथम सत्संगका सुख लाभ होता है जिससे यह प्राणी सुखी होजाता है ।

फिर भगवान् कहते हैं, कि " **रजसो लोभ एव च** " रजोगुणका अभ्यास करते-करते प्राणी लोभी होजाता है फिर उस लोभके बढनेसे यद्यपि वह देखनेमात्र सुखी जान पडता है पर यथार्थमें मारे लोभके धन बढानेकी अभिलाषासे दिनरात घोर चिन्ता और असार व्यवहारमें पडा रहता है तहां दुःख ही दुःख भोगता है इन्द्रायतनके

फलके समान उसका सुख बाहरसे तो अत्यन्त प्रसन्नताजनक जान पडता है पर यथार्थमें वह भीतरसे अत्यन्त कडुआ रहता है।

जैसे किसी अत्यन्त प्यासेको किसी गढेमें अटका हुआ बरसातका पानी अत्यन्त प्रिय लगता है पर यथार्थमें उससे शीतज्वर तथा खांसी इत्यादि रोगोंकी वृद्धि होती है। इसी प्रकार लोभीके लिये ये विषयसुख प्रथम प्रसन्नताके कारण होते हैं पर यह प्रसन्नता आकाशके विद्युत्के समान स्थिर नहीं रहती झट मिटजाती है और घोर अन्धकार सामनेसे दीखने लगजाता है इस कारण यह रजोगुण लोभद्वारा दुःखहीका कारण है।

अब भगवान कहते हैं, कि [ प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ] तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञानता उत्पन्न होती है इसी कारण प्राणी मूढ बना रहता है। जैसे घोर अन्धकारमें मार्ग चलनेवाला खड्डोंमें जा गिरता है ऐसे इस गुणका अभ्यासी घोर अज्ञानतारूप अन्धकारमें शरीरयात्रा करता हुआ भवसागरके खड्डेमें जागिरता है और गान्धारनगरके राजकुमारके समान मुश्कोंसे बंधाहुआ तथा आंखोंपर पट्टी बंधी हुई इधर-उधर अकेला भयंकर बनमें फिरा करता है।

प्रमाद और मोह तथा अज्ञानता तीनोंका वर्णन पिछले पृष्ठोंमें होचुका है ॥ १७ ॥

अब भगवान इन तीनों गुणवालोंकी गति स्थानभेदसे वर्णन करते हैं।

मू०— ऊर्द्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥
॥ १८ ॥

पदच्छेदः— सत्वस्थाः (सत्ववृत्तिस्थाः) ऊर्ध्वम् ( अभ्युदयलक्षणं स्वर्गम ) गच्छन्ति ( यान्ति ) राजसाः ( तृष्णाद्याकुलाः रजोगुणयुक्ताः ) मध्ये ( मनुष्यलोके ) तिष्ठन्ति, जघन्यगुणवृत्तिस्थाः ( निन्द्यं यद्गुणावृत्तं निद्राऽलस्यप्रमादादि तत् स्थाः ) तामसाः, अधः ( निकृष्टां योनिम् । तामिस्रादि नरकेषु वा ) गच्छन्ति ॥ १८ ॥

पदार्थः— ( सत्वस्थाः ) जो लोग सत्वगुणके व्यवहारोंमें स्थिर रहते हैं वे ( ऊर्ध्वम् ) ऊर्ध्वको अर्थात स्वर्गलोकादि लोकोंको ( गच्छन्ति ) जा प्राप्त होते हैं और इसी प्रकार जो लोग ( राजसाः ) राजस हैं अर्थात रजोगुणमें जिनकी स्थिति होचुकी वे ( मध्ये ) बीचमें अर्थात मनुष्यलोकमें मनुष्य होकर ( तिष्ठन्ति ) निवास करते हैं फिर ( जघन्यगुणवृत्तिस्थाः ) जो लोग निकृष्ट तमोगुणकी वृत्ति निद्रा, आलस्य इत्यादिमें सदा स्थिर रहचुके हैं ऐसे ( तामसाः ) तमोगुणी पुरुष ( अधः ) नीचेको अर्थात् पशु, पक्षी, शूकर, कूकर इत्यादि जघन्य योनियोंमें तथा तामिस्र इत्यादि नरकोंमें ( गच्छन्ति ) गिरजाते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थः— अब अगम अखिलेश श्रीब्रजेश भगवान संक्षेप करके स्थानभेदसे पूर्वजन्मके त्रिगुणात्मक पुरुषोंकी भिन्न-भिन्न गति

वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [ **ऊर्द्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था: मध्ये तिष्ठन्ति राजसा:**] जो लोग सत्वगुणके व्यवहारोंमें स्थित रहते हैं वे ऊर्द्ध्वस्थानमें और जो राजसी व्यवहारोंमें स्थिर रहते हैं वे मध्यस्थानमें निवास करते हैं अर्थात् सत्वगुणवाले प्रकाशसे प्रकाशित होकर अपनी बुद्धि द्वारा यथार्थ वस्तुओंका विवेक करने लगजाते हैं। वे मरणके पश्चात् गन्धर्व, पितर, अजानजदेव, कर्मदेव, बृहस्पति, प्रजापति इत्यादि सत्वगुणके लोकोंकी ओर चढते चलेजाते हैं एवम् प्रकार एक लोकसे उन्नति कर जब दूसरे उच्चलोकको प्राप्त होते हैं और वहां भी सत्वगुणहीमें स्थित रहते हैं तब वे उससे ऊपरवाले लोकों के सुखोंके अधिकारी होतेहुए ऊपर चढते चलेजाते हैं तो संभव है, कि ये भी ब्रह्मलोक तक चढजावें। इसी प्रकार "**मध्ये तिष्ठन्ति राजसा:**" जो रजोगुणी हैं वे नाना प्रकारके सुखोंका प्रलोभन सुनकर दिनरात सकामकर्मोंमें प्रवृत्त रहते हैं। क्योंकि उनके कर्मोंमें पाप पुण्य दोनोंका फेंट रहता है इसलिये वे दु:खमिश्रितसुखका स्थान जो यह मनुष्यशरीर स्वर्ग और नरकके मध्यमें है अथवा ऊर्द्ध्व वा अध: के बीचमें है तिसे प्राप्त कर दु:खमिश्रितसुखोंको भोगते हैं। इस मनुष्यशरीरमें जहां अधिक दु:ख और स्वल्प सुख है लटके रहजाते हैं अर्थात् इस भवसागरकी लहरोंमें पडे-पडे झकोडे खाते रहते हैं।

**शंका—** इस मनुष्यशरीरकी स्तुति अनेक ग्रन्थोंमें कीगयी है और इसको मुक्तिका द्वार बताया गया है। जैसे "**विमुक्ति हेतुकान्या तु नरयोनि: कृतात्मनाम्। ना मुञ्चति हि संसारे विभ्रान्त-**

मनसो गताः ॥ जीवां मानुष्यतां मन्ये जन्मनामयुतैरपि । तदीदृक् दुर्लभं प्राप्य मुक्तिद्वारं विचेतसः" ( वन्हिपुराणे शुद्धिव्रतनामाध्याये ) अर्थ स्पष्ट है ।

इस प्रमाणसे सिद्ध होता है, कि यह मनुष्य शरीर दुर्लभ है और मुक्तिका कारण है फिर वेदोंमें भी मनुष्यकी स्तुति कीगयी है । प्रमाण-

" होता मनुष्यो न दक्षः " ( १ । ५१ । ४ )

" दशारित्रो मनुष्यः स्वर्षाः " ( २ । १८ । १ )

" प्रमिनति मनुष्या युगानि " ( १ । ९२ । ११ )

इन मन्त्रोंसे मनुष्य योनिका श्रेष्ठ होना सिद्ध है । फिर मनुष्य को ऐसी नीची दृष्टिसे क्यों देखाजाता है और रजोगुणके सम्बन्धसे इसे दुखी क्यों बतायाजाता है ?

समाधान— इसमें सन्देह नहीं, कि मनुष्य सब योनियोंमें श्रेष्ठ है पर इसकी श्रेष्ठता उसी दशामें है जब यह उस महाप्रभुके स्वरूपकी ओर अपना तन, मन, धन लगा सर्वआश्रय छोड केवल भगवच्चरणोंका आश्रय लेकर भगवत्के ही स्वरूपमें निमग्न रहता है और तीनों गुणोंसे अतीत होकर सर्वप्रकारके व्यवहारोंको इन्द्र-जालके सदृश समझताहुआ सबसे न्यारा रहता है अर्थात् जिस मनुष्य को भगवद्भक्ति लाभ हुई उसीका शरीर मुक्तिका द्वार है पर जिस मनुष्यको भगवद्भक्ति लाभ न हुई वह तो केवल दुःख ही का कारण है अर्थात् यह मनुष्य शरीर बिना भगवद्भक्ति घोर नरक ही का द्वार है " को वास्ति घोरो नरकः स्वदेहः " घोर नरक क्या है ? यही जो अपना शरीर चर्म, रुधिर, मांस, कफ, पित्त, मल, मूत्र इत्यादिका

भंडार है, घोर नरक है । मुख्य अभिप्राय यह है, कि भगवद्भक्ति सहित मनुष्य शरीर सराहनीय है और विषयभक्ति सहित निन्दनीय है । एवम्प्रकार कुयोग सुयोगके भेदसे यह शरीर कुवस्तु और सुवस्तु होता है। प्रमाण—" **ग्रह भेषज जल पवन पट पाइ कुयोग सुयोग । होहिं कुवस्तु सुवस्तु जग लखहिं सुलच्छण लोग** " ( तुलसी ) अर्थ--जैसे शनैश्चर, राहु, केतु इत्यादि ग्रह सुयोग पाकर प्राणीको सुन्दर फल देते हैं और कुयोग पाकर बुरे फल देते हैं, जैसे भेषज (औषधि) सुयोग कुयोग पाकर रोगीको बनाते और बिगाडते हैं । संखिया विष है प्राणियोंको मारदेता है पर औषधियोंके साथ सुयोग पानेसे अमृत का गुण करता है महीनोंके खाटपै पडे मृतकके समान रोगीको चंगा करदेता है। जैसे एक कूपसे एक लोटा जल निकाललो और उसके फिर दो भाग करडालो आधेको तो मन्दिरमें लेजाकर भगवान्को स्नान करादो तो उसी जलको बडे २ आचार्य चरणामृत कहकर पान करजावेंगे और शेष जो आधा बचाहुआ जल है उसे दन्तधावन वा मुखप्रक्षालन करके भूमिपर नालीमें गिरादो तो उस जलको कोई स्पर्श भी नहीं करेगा । इसी प्रकार पवन जो बाटिका होकर चला तो सुगन्ध कहागया और जो मलमूत्र होकर चला तो दुर्गन्ध कहागया । ऐसे ही पट जो एक गज वस्त्र उससे आधा फाडकर ठाकुरजीकी टोपी बना प्रतिमाको पहनादो तो बडे-बडे बुद्धिमान उसे नमस्कार करेंगे और उसी बचेहुए आधे टुकडेसे किसीका शोथ ( घाव ) चीरकर रुधिर और पीप पोंछकर फैंकदो तो उसे देखते ही घृणा उत्पन्न होगी इसी प्रकार मनुष्य शरीरको भी जानना । यदि भगवद्भक्तिके साथ सुयोगमें पडगया तब तो

इसके समान सुखदायी स्तुति करने योग्य अन्य कोई शरीर नहीं है। और जो विषयोंके साथ इसका कुयोग पडगया तो यह साक्षात् नरकका मूल और सदा निन्दनीय है। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि रजोगुणी कर्म करनेवालोंको दुःख ही दुःख फल मिलता है दोनोंपर स्वल्पसुखका अवकाश कभी २ अनायास किसी शुभकर्मके उदय होनेपर प्राप्त होजाता है। अतएव भक्तिसहित शरीर स्वर्गका द्वार है और भक्तिरहित शरीर नरकका द्वार है। शंका मत करो!

इस मनुष्यशरीरकी गणना जो मध्यस्थानमें कीगयी है इसका मुख्य कारण भी तो यही है, कि इसी शरीरसे स्वर्गको अर्थात् उद्-र्ध्वको चला जाता है अर्थात् देवयोनियोंको प्राप्त होता है और इसीसे फिर नरकको अर्थात् नीचेको चलाजाता है इस कारण वह एक अद्-भुत शरीर मध्यमें स्थित है। रजोगुणी जीव इसीमें आकर अधिकांश निवास करते हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि [ **जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा:** ] अर्थात् वे लोग जो तामसी हैं प्रमाद, मोह, अज्ञानता इत्यादिसे भरे हुए हैं इसी कारण वे सदा निकृष्ट गुण जो तमोगुण तिससे उत्पन्न नीच प्रकारकी वृत्तियोंमें स्थित हैं वे अवश्य नीचेको नरकमें पतन होते हैं फिर नरकसे निकल कर शूकर, कूकर योनियोंको प्राप्त होते हैं।

इस विषयको भगवान् बारम्बार कहते चले आरहे हैं बहुतेरे टीकाकारोंने १६, १७ और १८ इन तीनों श्लोकोंको पुनरुक्ति कह-कर किसी अन्यका रचित समझकर त्याज्य लिखदिया है पर ये त्याज्य

नहीं हैं। पहले जो श्लोक ६ से ९ पर्यन्त इन तीनोंका फल कहा वह केवल वर्त्तमान जन्मके लिये कथन किया और अब जो कहते हैं अगले जन्मके लियेकहते हैं अर्थात् एकजन्मके गुणानुसार दूसरे जन्ममें कर्मोंका सम्पादन करना और तदाकार फल भोगना। इस कारण यहां न तो पुनरुक्ति है और न ये श्लोक त्याज्य हैं । यदि त्याग दिये जावें तो श्रीमद्भगवद्गीताके प्रसिद्ध ७०० श्लोकोंमें ३ श्लोकोंकी कमी होजावेगी ॥ १८ ॥

यहां तक तो भगवान्ने जीवमात्रके तीनों गुणोंका भेद, स्वरूप और फल वर्णन किया तथा ब्रह्मासे कीट पर्यन्त त्रिगुणात्मक संसारका स्वरूप दिखलाया। अब भगवान् अगले श्लोकमें तीनों गुणोंसे अतीत प्राणीकी गति अर्थात् संसारकी निवृत्तिका उपाय वर्णन करते हुए कहते हैं—

**मू०— नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति।**
**गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥**
**॥ १९ ॥**

**पदच्छेदः**— यदा (यस्मिन्नवसरे) द्रष्टा (विविक्तात्मदर्शी विद्वान्। बिचारकुशलः) गुणेभ्यः (कार्यकारणविषयाकारपरिणतेभ्यस्त्रिगुणेभ्यः) अन्यम् (इतरम्। भिन्नम्। अपरम्) कर्त्तारम् (कायिकवाचिकमानसानां विहितप्रतिषिद्धानां कर्मणां सम्पादकम्) न, अनुपश्यति (नावलोकयति) च (पुनः) गुणेभ्यः (सत्वादि गुणेभ्यः) परम् (गुणव्यापारव्यतिरिक्तम। साक्षिमात्रम्) वेत्ति

( जानाति ) सः ( आत्मदर्शी ) मद्भावम् ( प्रत्यग्ब्रह्मैकलक्षणां मद्रूपताम् ) अधिगच्छति ( प्राप्नोति ) ॥ १९ ॥

**पदार्थः—** ( यदा ) जिस समय ( द्रष्टा ) आत्मदर्शी विवेकी पुरुष ( गुणेभ्यः ) इन तीनों गुणोंसे ( अन्यम् ) इतर किसी दूसरेको ( कर्तारम् ) सृष्टिके व्यवहारोंका कर्ता ( न अनुपश्यति ) नहीं देखता है ( च ) फिर जो विवेकी आत्माको ( गुणेभ्यः ) इन तीनों गुणोंसे ( परम् ) परे अर्थात विलग साक्षीमात्र ( वेत्ति ) जानता है ( सः ) सो विचारशील ज्ञानी ( मद्भावम् ) मेरे स्वरूपको ( अधिगच्छति ) प्राप्त होता है अर्थात मुझमें प्रवेश करजाता है ॥ ॥ १९ ॥

**भावार्थः—** श्रीसच्चिदानन्द आनन्दकन्द ब्रजचन्दने जो इस अध्यायके आरंभ होते ही अर्जुनके प्रति यह प्रतिज्ञा की है, कि " **परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्** " हे अर्जुन! मैं फिर ज्ञानोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ और उत्तम ज्ञान हे अर्जुन! तुझसे कहूंगा इसी अपनी प्रतिज्ञाकी पूर्तिके तात्पर्यसे भगवानने यहांतक इस सृष्टिकी रचना तथा इस सृष्टिमें तीनों गुणोंके फैलावसे संसारका प्रवाह विस्ताररूपसे दिखलाया । इस प्रकार दिखलानेकी आवश्यकता यह थी, कि जबतक प्राणी किसी वस्तुके दोष और गुणोंको पूर्णप्रकार न जानले और उसके स्वरूपको पूर्णप्रकार न पहचानले तबतक उसे संग्रह त्यागकी बुद्धि नहीं होसकती अर्थात् इतना नहीं समझ सकता है, कि यह वस्तु त्यागने योग्य है वा संग्रह करने योग्य है पर जब प्राणी मिश्री और संखिया दोनोंकी डलियोंको देखकर समझ जाता है, कि

यह अमृत है और यह बिष है तब एकका ग्रहण और दूसरेका त्याग करता है।

भगवान्‌का भी यही अभिप्राय था, कि पहले अर्जुनको सृष्टि अर्थात् इस असार संसारेका स्वरूप समझा दूं, कि यह संखियाकी डली है इसे हाथसे फेंकदे। इसी कारण सब ज्ञानोंमें उत्तम और श्रेष्ठ ज्ञानको समझाते हुए कहते हैं, कि [ **नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति** ] जब द्रष्टा अर्थात् आत्मतत्वको देखनेवाला विचारमें सर्व प्रकार कुशल तेरहवें अध्यायमें कथन किएहुए अमानित्वसे तत्वज्ञानार्थदर्शन पर्यन्तके ज्ञान-साधनोंमें परम कुशल जो आत्मदर्शी भगवद्भक्त है वह जिस समय इन गुणोंका विचार करते-करते तथा इन गुणोंके व्यवहारोंसे विलग होनेका उपाय साधन करते २ जब पूर्णप्रकार हिलाडुलाकर ज्ञानकी कसौटी-पर कसकर देखलेता है, कि इस संसाररूप मिथ्या स्वर्णकी लालिमा यथार्थमें धोखेकी टट्टी है, केवल सत्व, रज, और तम इन ही धोखा देनेवाले खिलाडियोंने यह सारा जाल फैला रखा है, इन तीनों गुणोंसे भिन्न अन्य कोई दूसरा कारण इस धोखेकी टट्टीके इतना विस्तार रूपसे फैलनेका नहीं है, कोई दूसरा इसका कर्ता नहीं है जो कुछ है वह इनही तीनों गुणोंका विस्तार है प्रकृतिरूप नटीने यह भानमतीकी पिटारी रचडाली है और अपने त्रिगुणात्मक मन्त्रों द्वारा सम्पूर्णसृष्टिको एक 'छुः' कर ऐसा मस्त करडाला है, कि ब्रह्मा से लेकर पिपीलिका पर्य्यन्त सब उसके तेताले तानपर नृत्य करेरहें हैं कोई भी अपनी सुधिमें नहीं है। क्योंकि ये जितनी मूर्तियां वा जितने

शरीर बने हैं इनका बनना इनही तीनों गुणोंसे है। जैसे आकाशमें फैलाहुआ जलका अंश एक ठौरे सिमट कर बहुत विशाल बादलका टुकडा बनकर घिर आता है और वह घनघोर बादल जैसे अग्नि, वायु और जलके परमाणुओंके मेलसे बनाहुआ होता है इसी प्रकार जितने शरीर महान् विस्तार वा अत्यन्त छोटेसे छोटे जो इस संसारमें देखपडते हैं सब इन तीनों गुणोंहीके मेलसे देखपडते हैं ऐसा जो जानता है तथा ज्ञानके नेत्र खुलनेसे जगकर जो इस त्रिगुणात्मक संसारको स्वप्नवत् देखता है [ **गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति** ] इस आत्मा अर्थात् अपनेको इन गुणोंके साथ विहारकरताहुआ भी विलग जानता है वही मेरे भावको प्राप्त होता है। जैसे बहुरूपिया भिन्न-भिन्न रूपोंको धारण करनेपर भी अपना रूप नहीं भूलता है ऐसे ज्ञानी अपनेको इन तीनोंसे परे मानता है।

जैसे सूर्यके प्रकाशसे ही कमल खिलता है अन्धकार फटता है और रात्रि भागती है पर सूर्य स्वयं सबसे रहित है ऐसे जो विवेकी अपनेको तीनों गुणोंसे परे तथा तीनोंका साक्षी समझता है पर सबसे विलग रहता है उसीके विषय भगवान् कहते हैं, कि ऐसा द्रष्टा मेरे भावको प्राप्त होता है अर्थात् मेरे स्वरूपमें प्रवेश कर मेरे समान होजाता है।

इसलिये प्राणीमात्रको उचित है, कि इन तीनों गुणोंके न्यूनाधिक्यसे चैतन्य रहे तथा स्वयं समझता रहे, कि इस समय कौन गुण मेरे सम्मुख उदय है! तदनुसार उस गुणके व्यवहारोंका साक्षीमात्र रहे और आप सबसे विलग रहकर भगवत्स्वरूपकी ओर चित्त लगावे ॥ १९ ॥

अब तीनों गुणोंसे अतीत प्राणी कैसे मोक्षको प्राप्त होता है? सो भगवान् आगे कहते हैं।

मू०— गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

**पदच्छेदः—** देहसमुद्भवान् (देहोत्पत्तिबीजभूतान्) एतान् (यथोक्तान्) त्रीन् (सत्वरजस्तमोनाम्नः) गुणान्, अतीत्य (जीवन्नेवातिक्रम्य) जन्ममृत्युजरादुःखैः (जन्मना मृत्युना जरया दुःखैराध्यात्मिकादिभिर्मायामयैः) विमुक्तः (सम्बन्धशून्यः) [सन्] देही (देहसाक्षीभूतो विद्वान्) अमृतम् (मोक्षम्। भगवद्भावम्। ब्रह्मानन्दम्) अश्नुते (प्राप्नोति) ॥ २० ॥

**पदार्थः—** (देहसमुद्भवान्) इस शरीरके उत्पन्न होनेके मुख्य कारण (एतान्) ऊपर कथन कियेहुए (त्रीन् गुणान्) सत्वादि तीनों गुणोंको (अतीत्य) उल्लंघन करके (जन्ममृत्युजरादुःखैः) जन्म, मरण तथा वृद्धता इत्यादिके दुःखोंसे (विमुक्तः) छूटकर (देही) यह देहधारी चेतन आत्मा (अमृतम) कैवल्य परमपदको अर्थात् भगवद्भावको (अश्नुते) प्राप्त होजाता है ॥ २० ॥

**भावार्थः—** यह सिद्धान्त किया जाचुका है, कि जो प्राणी सत्वादि तीनों गुणोंके झगडेमें पडा रहेगा वह चिरकाल पर्य्यन्त कालके मुखमें बारम्बार पडता चला जावेगा इसलिये जो विद्वान् है, ज्ञानी है और भगवद्भक्त है वह इन तीनोंके फन्दे नहीं फँसता फिर

उसकी क्या गती होती है ? सो वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं, कि [ गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ] ये जो तीनों गुण ऊपर कथन कियेगये हैं ये ही तीनों इस शरीरकी उत्पत्तिके बीज हैं अर्थात् इन ही तीनों गुणोंसे पञ्चमहाभूत, दशों इन्द्रियां, चार अन्तःकरण, पंच प्राण, साढे तीन लक्ष नाडियां, पञ्च कोश, सप्तधातु इत्यादि उत्पन्न होते हैं जिसका एक पिण्ड तय्यार होकर देहके नामसे पुकारा जाता है। इसी कारण इन तीनों गुणोंका विशेषण श्रीआनन्दकन्दने 'देहसमुद्भव' कहकर जनाया है अर्थात जिनसे देहोंकी उत्पत्ति होवे सो ये देहसमुद्भव तीनों गुण इस देहीको इस संसारबन्धनमें बांधने वाले हैं।

भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो द्रष्टा इन तीनों गुणोंसे अपनेको बिलग देखता है वह धीरे २ इन तीनों गुणोंके बन्धनोंको तोड तीनों प्रकारके व्यवहारोंसे बिलग हो तीनों गुणोंके जलसे लहराते हुए इस अथाह भवसागरको पारे करे [ जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ] जन्म, मरण, वृद्धता इत्यादि जो आध्यात्मिकादि त्रिताप हैं इन सबोंसे छूटकर अमृतरूप जो कैवल्य परमपद तिसे लाभ करता है अर्थात् यह जीवात्मा इन तीनों गुणोंके सम्मुख हुए जो तापत्रयका कष्ट झेल रहा था, बार २ शूकर, कूकरादि योनियोंमें उत्पन्न होता हुआ परम अपवित्र मलमूत्रादिके आहारको ग्रहण करताहुआ परम प्रसन्न होता था, कभी २ बिराना बैल बनकर वैशाख ज्येष्ठके महीनोंके तापोंको सहता हुआ बेंतोंकी मार खाताहुआ दिनभर हलको कन्धोंपर रख खेत कोडा करता था, कभी

मृगा बन बहेलियोंके जालमें फंसकर प्राणदेता था, कभी भ्रमर होकर कमलपुष्पसे स्नेह कर हस्तीके शुण्डका आहारे होता था सो इन गुणोंको पार करते २ जब सम्पूर्ण सागरको पारे करजाता है तब प्राणी जन्मके समय जिस किनारे खडा था उससे दूसरे किनारेपर आ पहुंचता है जैसे पक्षी पिंजरेसे छूट आकाशमें गमन करता है ऐसे इस त्रिकोण पिंजरसे एक वारगी निकल जाता है और तभी यह देही जीता हुआ अमृतपदको प्राप्त होता है अर्थात् भगवद्भावमें प्राप्त हो परमान्द लाभ करता है ॥ २० ॥

गुणातीतोंको जीवित रहते २ भगवत्स्वरूपका लाभ होता है इतना सुन अर्जुनको ऐसे गुणातीतपुरुषोंके लक्षण, आचरण तथा इसके साधन करनेकी श्रद्धा उत्पन्न होआयी और भगवान्से यों प्रश्न किया ।

**अर्जुन उवाच—**

**मू०— कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो !**
**किमाचारः कथञ्चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्त्तते ॥ २१**

**पदच्छेदः—** प्रभो ! ( हे सर्वसमर्थ ! ) एतान् ( पूर्वव्याख्यातान् ) त्रीन्, गुणान् ( सत्वादीन् ) अतीतः ( अतिक्रम्य वर्त्तमानः। अतिक्रान्तः ) [ यः सः ] कैः ( कीदृशैः ) लिङ्गैः ( चिन्हैः ) [विशिष्टः] भवति, किमाचारः ( कोऽस्याचारः ? ) च, एतान् ( उक्तान् ) त्रीन्, गुणान् ( सत्वादीन् ) कथम ( केनोपायेन ) अतिवर्त्तते ( अतिक्रामति ) ॥ २१ ॥

पदार्थः– (प्रभो !) हे सर्वप्रकार समर्थ मेरे परमप्रिय रक्षक ! ( एतान् ) ये जो कथन किये ( त्रीन गुणान् ) तीनों गुण तिनको ( अतीतः ) अतिक्रमण करके अर्थात् पार करके जो विलग ( भवति ) होजाता है वह ( कैर्लिङ्गैः ) किन २ प्रकारके चिन्होंसे पहचाना जाता है, कि यह गुणातीत है फिर ( किमाचारः ) ऐसे पुरुषोंके कैसे आचरण होते हैं? ( च ) फिर ( एतान् ) इन ( त्रीन ) तीनों ( गुणान् ) गुणोंको ( कथम् ) किस उपायसे ( अतिवर्त्तते ) अतिक्रमण करके वह प्राणी वर्त्तमान रहता है ॥ २१ ॥

भावार्थः– अर्जुनके प्रति श्रीजगतहितकारी गोलोकविहारी ने जो यों कह सुनाया, कि सारा संसार तो सामान्यरीतिसे इन तीनों गुणोंके फंदेमें फँसाहुआ नाना प्रकारके दुःखसुखका भागी हो जन्मता और मरता रहता है पर जो पुरुष इन तीनों गुणोंसे अतीत होजाता है वह जीते २ परमपद अर्थात् भगवतस्वरूपको लाभ करता है। इतना सुनकर अर्जुनको तीन बातोंके जाननेकी अभिलाषा उत्पन्न होआयी इसलिये भगवानसे तीन प्रश्नोंको करताहुआ संपुटाञ्जलि हो प्रार्थना करता है, कि [ कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ! ] हे प्रभो ! जो प्राणी इन तीनों गुणोंको अतिक्रमण करके वर्त्तमान रहता है उसको किन २ चिन्होंसे पहिचानना चाहिये ? अर्थात् उसके शरीरमें वा स्वभावमें ऐसी क्या विशेषता होती है जिससे समझाजाता है, कि वह प्राणी गुणातीत है ।

दूसरा प्रश्न यह है, कि [**किमाचारः**] ऐसे गुणातीत प्राणियोंका कैसा आचरण होता है ?

तीसरा प्रश्न यह है, कि [ **कथञ्चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्त्तते** ] वे कौनसे उपाय हैं ? जिनके साधन करनेसे प्राणी शीघ्र इन तीनों गुणोंसे विलग होजाता है अर्थात् किस यत्नके करनेसे यह देही गुणातीत होजाता है ?

अर्जुनने जो यहां भगवान्‌को प्रभो ! कहकर सम्बोधन किया इसका अभिप्राय यह है, कि प्रभु स्वामीको कहते हैं सो जैसे स्वामी अपने भृत्यको अज्ञानी जानकर धीरे २ अपने घरके सब आचार व्यवहार समझाकर बडी सावधानताके साथ उससे काम लेता है ऐसे हे नाथ ! तुम मेरे ऐसे अज्ञानीको अपना भृत्य जान अपने घरके आचार व्यवहारको ठीक-ठीक समझादो तो मैं तुम्हारी आज्ञानुसार ही सेवाका सम्पादन करूं। अर्जुनका आन्तरिक तात्पर्य यह है, कि जब गुणातीत होकर परमानन्द लाभ करना अर्थात् जीवन्मुक्ति प्राप्त करना उत्तमोत्तम है तो फिर यह युद्ध जो रजोगुणी व्यवहार है इसे छोड मैं भी क्यों न गुणातीत होजाऊं ॥ २१ ॥

भगवान् अर्जुनके हृदयकी गति जानकर इन गुणोंकी झंझटके बीच रहते हुए भी प्राणी गुणातीत कैसे होजाता है ? वर्णन करते हैं ।

श्रीभगवानुवाच—

मू०— प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव! ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२

पदच्छेदः— पाण्डव ! ( पाण्डुकुलभूषण ! ) सम्प्रवृत्तानि ( सम्यग्विषयाभावेनोद्भूतानि । स्वतः प्राप्तानि । मनसि आविर्भूतानि ) प्रकाशम् ( सत्वकार्यम ) च ( पुनः ) प्रवृत्तिम ( रजः कार्यम ) च, मोहम ( तमःकार्यम ) एव ( निश्चयेन ) च [ यः ] न द्वेष्टि ( द्वेषं न करोति ) निवृत्तानि ( अप्रवृत्तानि ) न कांक्षति ( न कामयते ) सः गुणातीतः, उच्यते [ चतुर्थ श्लोकेन सहान्वयः ] ॥ २२ ॥

पदार्थः— ( पाण्डव ! ) हे पाण्डुपुत्र अर्जुन ! ( संप्रवृत्तानि ) आपसे आप प्राप्त होनेवाले ( प्रकाशम ) सत्वगुणके 'कार्य' प्रकाशको ( च ) फिर ( प्रवृत्तिम् ) रजोगुणके कार्य प्रवृत्तिको ( च ) और ( मोहम ) तमोगुणके 'कार्य' मोहको ( एव ) निश्चय करके जो प्राणी ( न द्वेष्टि ) द्वेषदृष्टिसे नहीं देखता है ( च ) तथा जो ( निवृत्तानि ) इन गुणोंके उपस्थित होनेपर इनकी निवृत्तियोंको ( न कांक्षति ) नहीं चाहता है अर्थात इनके दुःख सुखको देख इनसे रागद्वेष नहीं करता वही गुणातीत है ॥ २२ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवान्से तीन प्रश्न किये हैं उनमें प्रथम प्रश्न जो गुणातीतके लक्षण तिसें भगवान् इस श्लोकमें

वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [ प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव ! ] हे पाण्डुपुत्र अर्जुन ! देख ! सत्वगुणका कार्य इंद्रियोंमें प्रकाश, रजोगुणका कार्य्य इन्द्रियोंमें व्यहारोंकी प्रवृति तथा तमोगुणका कार्य मोहमें अनुरक्ति है ये ही तीनों गुण प्राणियोंको अपनेमें फँसालेते हैं । ये तीनों जब अपने-अपने समयपर इस शरीरमें उदय होजाते हैं तब [ न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति] जो प्राणी इनसे द्वेष नहीं करता तथा इनसे निवृत्त होनेकी भी इच्छा नहीं करता अर्थात् जब रजोगुण वा तमोगुणके कार्य इनके सम्मुख आकर भयंकरस्वरूपसे इसे डराने लगजाते हैं तो भी जो इनसे द्वेष नहीं करता तथा इनसे निवृत्त होनेकी भी इच्छा नहीं करता तात्पर्य यह है, कि सुख हो वा दुःख किसी ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता है। कोई कर्म सफल हो चाहे निष्फल इसकी तनक भी चिन्ता नहीं करता, न सत्वगुणकी वृद्धिसे हर्ष, न रजोगुणसे अभिमान वा तमोगुणकी वृद्धिका विषाद कुछ भी जिसके शरीरको नहीं छूता । जैसे क्षीरसागर खटाईके छींटेसे नहीं फटता और हिमालय पर्वत हिम ऋतुमें हिमसे भरजानेपर तनक भी कम्पायमान नहीं होता ऐसे जो प्राणी इन तीनों गुणोंके किसी भी कार्यसे बिचलित नहीं होता अर्थात् जो तीनों गुणोंकी वृद्धि और ह्रासमें एक रस रहता है वही यथार्थ ' गुणातीत ' है ।

इस विषयको भगवान्ने अ० २ श्लोक ५५में अर्जुनके प्रति स्थितप्रज्ञोंका लक्षण वर्णन करते हुए कहदिया है ( देखलेना ) पर यहां फिर अर्जुनके पूछनेपर भगवान्ने दूसरी रीतिसे कथन करे०

दिया है। क्योंकि गुणातीत और स्थितप्रज्ञमें कुछ भी अन्तर नहीं है। इसी कारण जितने लक्षण स्थितप्रज्ञोंके द्वितीय अध्यायमें कथन होचुके हैं वे सब ज्योंकेत्यों गुणातीतोंके भी जानने चाहियें।

ग्रन्थविस्तारके भयसे फिर उन अर्थोंका यहां कथन नहीं किया गया इस श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनके प्रथम प्रश्नका उत्तर अर्थात् गुणातीतोंका लक्षण कहि सुनाया।

अब एक विशेष रहस्य यहां जानने योग्य यह है, कि जो पुरुष गुणातीत है वा स्थितप्रज्ञ है उसे दूसरा प्राणी एक बारगी नहीं पहचान सकता। कारण इसका यह है; कि इस गुणातीतका स्वार्थलक्षण है।

लक्षण दो प्रकारके हैं एक स्वार्थलक्षण और दूसरा परार्थ-लक्षण जिनको स्वसंवेद्य और परसम्वेद्य भी कहते हैं।

स्वार्थलक्षण वा स्वसम्वेद्यलक्षण उसे कहते हैं जो अपनेहीको ज्ञान पडे जैसे गुणातीत और स्थितप्रज्ञका लक्षण दूसरेको कुछ भी ज्ञान नहीं होता। और परार्थलक्षण वा परसंवेद्य उसे कहते हैं जो परायेको भी जानपडे जैसे हर्ष और शोक। क्योंकि मुख देखने हीसे हर्ष, शोक, चिन्ता इत्यादिका बोध परायेको होजाता है। अथवा अश्वमें जो अत्यन्त शीघ्र गमनका लक्षण है वह परार्थ वा पर-संवेद्य लक्षण है जो दूसरा पहचान सकता है पर गुणातीत पुरुष स्वार्थ और स्वसंवेद्यलक्षणसे युक्त होनेके कारण किसी दूसरेसे नहीं पहचाना जासकता ॥ २२ ॥

अब भगवान् अर्जुनके दूसरे प्रश्नका उत्तर अर्थात् "किमाचारः ?" गुणातीतका क्या आचरण है अगले तीन श्लोकोंमें वर्णन करते हैं—

**मु०— उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।**
**गुणा वर्त्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३**

**पदच्छेदः—** यः ( गुणातीतपुरुषः ) उदासीनवत् ( वासनाशून्यत्वाद्गुणारम्भके शरीरे उदासीन इव ) आसीनः ( अवस्थितः सन् ) गुणैः ( सत्वादिभिः ) न, विचाल्यते ( प्रच्यावते स्वरूपं विहाय गुणतादात्म्यं गच्छति ) [ किन्तु ] गुणाः ( सत्वादयः ) एव ( निश्चयेन ) वर्त्तन्ते ( तिष्ठन्ति ) इति ( एवं प्रकारेण ) यः ( विवेकी । कौटस्थज्ञानेन निवृत्तकर्तृत्वाभिमानात्मवित् ) *अवतिष्ठति ( स्तब्ध इव वर्त्तते ) [ तथा ] न इंगते ( गुणकृतैरिष्टानिष्टस्पर्शैर्न चलति ) [ गुणातीतः स उच्यते इति त्रिभिः श्लोकेन सहान्वयः ] ॥ २३ ॥

**पदार्थः—** ( यः ) जो गुणातीत पुरुष ( **उदासीनवत्** ) उदासीनके समान ( **आसीनः** ) बैठाहुआ ( **गुणैः** ) तीनों गुणोंके व्यवहारोंसे ( **नविचाल्यते** ) चलायमान नहीं होता है और ऐसा अपने मनमें दृढ कर रखता है, कि ( **गुणाः** ) ये जो तीनों गुण हैं वे ही

---

* **अवतिष्ठति—** छन्दोभंगके कारण आत्मनेपदको परस्मैपदमें दिया । क्योंकि 'अनुष्टुब्छन्दसि पंचमस्य लघुत्वनियमात्' इसी कारण किसी २ गीतामें "अनुतिष्ठति" भी पाठ है ।

( एव ) निश्चय करके ( वर्त्तन्ते ) आपसे आप वर्त्तमान रहते हैं ( इति ) इस प्रकार ( यः ) जो आत्मवेत्ता (अवतिष्ठति ) दृढ निश्चयकर पत्थरके समान स्थिर रहता है तथा ( न इंगते ) जो इनके डुलाये तनक भी नहीं डोलता सो ही गुणातीतके आचरणसे युक्त कहाजाता है ॥ २३ ॥

भावार्थः— ऊपरके श्लोकोंमें कृष्णमुरारी अच्युतानन्द अर्जुनके प्रथम प्रश्नका उत्तर देचुके, कि गुणातीतके कौन २ से लक्षण हैं अब इस श्लोकसे लेकर २५ वें श्लोकतक अर्जुनके दूसरे प्रश्नका उत्तर देंगे। अतएव गुणातीतोंके आचरणका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [ उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ] जो प्राणी सदा उदासीनके ऐसा स्थित रहकर किसी भी गुणके व्यवहारोंके वर्त्तमान होनेसे चलायमान नहीं होता अर्थात सत्वगुणके द्वारा कितना भी सुख उसे प्राप्त क्यों न हो पर तनक भी हर्षका लेश उसके हृदयपर नहीं होता। इसी प्रकार रजोगुण वा तमोगुणके व्यवहारोंके प्राप्त होनेपर जिसके हृदयमें भी किसी कर्ममें प्रवृत्त होनेके संकल्प अथवा दुःख और मोह इत्यादि अपाय नहीं होता वरु इसके प्रतिकूल ऐसा समझाजाता है, कि [ गुणावर्त्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते ] ये जो तीनों गुण हैं ये आपसे आप उदय होकरे अपने व्यवहारोंका सम्पादनकर विनश जाते हैं ऐसा जो आत्मवित्त सर्वसंकल्पशून्य होकर अपने स्वरूपमें स्थित रेहता है पर्वत समान किसीके डोलायें नहीं डोलता सदा ब्रह्मज्ञानमें स्थिर रेहता है वही गुणातीत वा स्थितप्रज्ञ है ॥ २३ ॥

लो और भी सुनो !

मू०— समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
॥ २४, २५ ॥

**पदच्छेदः**— [ यः ] **समदुःखसुखः** ( रागद्वेषानुत्पादकतया स्वीयत्वाभिमानास्पदे समे दुःखसुखे यस्य ) **स्वस्थः** ( द्वैतदर्शनशून्यत्वात् स्वात्मनि स्थितः । प्रसन्नः ) **समलोष्टाश्मकाञ्चनः** ( लोष्टं चाश्मा च कांचनं च समानि यस्य सः विरक्तः ) **तुल्यप्रियाप्रियः** ( समे सुखदुःखहेतुभूते यस्य सः हितसाधनत्वाहितसाधनत्वबुद्धिविषयत्वाभावेनोपेक्षणीयत्वात् समे प्रियाप्रिये यस्य सः ) **धीरः** ( धीमान् धृतिमान् वा ) **तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः** ( समे दोषकीर्तनगुणकीर्तने यस्य सः ) **मानापमानयोः** ( सत्कारतिरस्कारयोः ) **तुल्यः** ( समः । एकरसः ) **मित्रारिपक्षयोः तुल्यः, सर्वारम्भपरित्यागी** ( देहधारणमात्रव्यतिरेकेण सर्वकर्मपरित्यागी ) **सः** ( एवम्भूताचारयुक्तः ) **गुणातीतः** (सत्त्वादिगुणरहितः ) **उच्यते** ॥ २४, २५ ॥

**पदार्थः**— जो विवेकी ( **समदुःखसुखः** ) दुःखसुखमें समान भावसे रहता है ( **स्वस्थः** ) अपने आत्मामें शान्तरूपसे स्थित प्रशान्त चित्त रहता है फिर ( **समलोष्टाश्मकांचनः** ) लोहा, पत्थर और स्वर्णको एकसमान देखता है (**तुल्यप्रियाप्रियः**) प्रिय और अप्रिय दोनों

में जो समान दृष्टि रखता है इसी कारण जो ( धीरः ) सदा एकरस रहकर किसी अवस्थामें व्याकुल नहीं होता ( तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ) जो अपनी निन्दा और स्तुतिको एक समान समझता है ( मानापमानयोस्तुल्यः ) जो मान और अपमानसे हर्षविषादको न प्राप्त होकर सम रहता है ( मित्रारिपक्षयोः तुल्यः ) मित्र और शत्रुके पक्षमें एकरूप रहता है ( सर्वारम्भपरित्यागी ) जो सर्वप्रकारके लौकिक वैदिक सकाम कर्मोंका परित्याग करदेता है (सः) वही ( गुणातीतः ) तीनों गुणोंसे अतीत ( उच्यते ) कहलाता है ॥ २४, २५ ॥

भावार्थः— अब यदुकुलपूर्णनिशेष भगवान् हृषीकेश गुणातीत पुरुषोंके सब आचरणोंको इन दोनों श्लोकोंमें समाप्त करतेहुए कहते हैं, कि [ समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ] जो पुरुष चाहे कितना भी दुःखसे घिरगया हो सुदामा के समान परम दरिद्र अवस्थासे क्यों न विदग्ध होगया हो, भिक्षा शिल्प वा उञ्छवृत्तिसे अपने उदरको पूर्ण क्यों न करलेता हो, वृक्षके नीचे बिना किसी गृहके शीत उष्ण सहताहुआ समयको क्यों न बिताता हो प्रारब्धानुसार किसी प्रकारके रोगसे क्यों न पीडित होरहा हो, व्याघ्रके मुखके भीतर क्यों न चलाजारहा हो और सारा शरीर भीष्म पितामहके समान बाणोंसे क्योंन बिंधगया हो पर इतने दुःखोंके प्राप्त होनेपर भी जो तनक " उफ " न करे तथा इसके प्रतिकूल सम्पूर्ण विश्वका राज्य क्यों न मिलजावे, स्वर्ग भी जिसके करतलगत क्यों न होगया हो, दिन रात अप्सराओंके संग दूधके फेन

के समान श्वेत शय्यापर विहार करताहुआ नन्दनवनकी वाटिकाके शीतल, मन्द, सुगन्ध वायुका वसन्त ऋतुमें सुख क्यों न लेरहा हो, सारा शरीर रोगरहित होकर कंचनके समान क्यों न चमक रहा हो और शीतल चन्दनके लेपसे सारा शरीर शीतलताके सुखको क्यों न भोगरहा हो तथापि तनक भी हर्षका लेश जिसके मुखपर न हो वरु ऐसी अवस्थामें भी हर्षसे रहित उदासीन रहे तो ऐसे विवेकीको 'समदुःखसुखः' कहना चाहिये। सो भगवान् कहते हैं, कि जो प्राणी एवम्प्रकार दुःख सुखमें समान भाववाला है तथा " स्वस्थः " जो सुख दुःखमें एक रस रहनेके कारण केवल अपने आत्मामें स्थिर है फिर जिसकी दृष्टिमें लोहा, पत्थर और सुवर्ण एक समान भासरहे हैं अर्थात् जो मणि, माणिक इत्यादि रत्नोंके भण्डारोंको फूल, मिट्टी, गोबर, कंकरे, पत्थरका ढेर समझरहा हो ऐसा जो वैरागी हो जिसको किसीसे एक कौडीका भी प्रयोजन न हो ऐसा जो महाराजोंका भी महाराज हो " जाको कुछ नहिं चाहिये सो शाहन पतिशाह " इस वचनके अनुसार द्रव्यकी इच्छासे रहित बादशाहोंका भी बादशाह हो वही यथार्थ त्रिगुणातीत है।

अब भगवान् कहते हैं, कि [ तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ] जिसकी बुद्धिमें प्रिय और अप्रिय अर्थात् इष्ट वा अनिष्ट एक समान देख पडते हैं। और जो हिमालय पर्वतके समान सुख दुःखमें स्थिर और अटल तथा निन्दा और स्तुति दोनोंको तुल्य समझ रहा हो।

फिर आनन्दकन्द कहते हैं [ मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ] मान और अपमानोंमें भी तुल्य हो अर्थात् उसके चेले चांटी उसकी स्तुति करनेवाले उसका मान करें वा उसके निन्दक उसका अपमान करें तो दोनों अवस्थाओंमें एकसमान रहकर अपने मित्र और शत्रुके पक्षमें भी तुल्य हो । तात्पर्य्य यह है, कि सदा उदासीन रहकर जो यथार्थ वार्त्ता हो तदनुसार न्यायशील हो अर्थात् न्याय करते समय अपने मित्रोंका पक्षपात न करे [ सर्वारम्भ-परित्यागी गुणातीतः स उच्यते ] सर्वारम्भपरित्यागी हो अर्थात् लौकिक वैदिक कर्मोंका परित्यागकर केवल भगवत्परायण होकर भगवत्प्राप्तिनिमित्त कर्मोंसे अतिरिक्त किसी कर्मकी ओर न देखे, चाहे उस कर्मके सम्पादनसे सहस्रों स्वर्गकी प्राप्ति क्यों न होती हो पर उस सुखको कूकरके उवान्तके समान जानकर उसके लिये तनक भी किसी कर्मका अनुष्ठान न करे उसीको सर्वारम्भपरित्यागी कहते हैं एवम्प्रकार जो सदा सर्वारम्भपरित्यागी हो उसीको गुणातीत कहते हैं ।

अर्जुनने जो भगवानसे दूसरा प्रश्न किया, कि ' किमाचारः ' गुणातीतपुरुषोंका क्या आचरण है ? सो भगवान्ने इसका उत्तर इन दोनों २४ और २५ श्लोकोंमें कहकर समाप्त करदिया ॥ ॥ २४, २५ ॥

अब भगवान् अर्जुनके तीसरे प्रश्नका उत्तर देते हैं अर्थात् गुणातीत होनेका क्या उपाय है ? उसे वर्णन करते हैं ।

मू०— माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
॥ २६ ॥

पदच्छेदः— यः ( गुणातीतत्वप्रयत्नसाधकः ) माम् ( महेश्वरम् । सर्वभूतहृदयाश्रितं नारायणं परमानन्दघनं भगवन्तं वासुदेवम् ) च, अव्यभिचारेण ( वृत्त्यन्तरानन्तरितेन परमप्रेमलक्षणेन ) भक्तियोगेन ( तैलधारावदविच्छिन्नवृत्तिप्रवाहिमनः प्रणिधानरूपेण ) सेवते ( विषयचिन्तां विहाय सदानुसंदधाति ध्यायति वा ) सः ( मदनुग्रहकृतसम्यग्ज्ञानसम्पन्नो मद्भक्तः ) एतान् ( प्रागुक्तान ) गुणान् ( सत्वादीन् ) समतीत्य ( सम्यगतिक्रम्य ) * ब्रह्मभूयाय ( ब्रह्मभावाय । मोक्षाय । ) कल्पते ( योग्यो भवति । समर्थो भवति ) ॥ २६ ॥

पदार्थः— ( यः ) जो गुणातीत होनेकेलिये प्रयत्नकरनेवाला ( माम् च ) मुझ परमानन्द महेश्वरको ( अव्यभिचारेण ) व्यभिचार रहित अर्थात् अन्य किसीमें भी आश्रय नहीं करनेवाले ( भक्तियोगेन ) भक्तियोगसे ( सेवते ) सेवन करता है ( सः ) सो मेरा भक्त ( एतान् ) इन पूर्वोक्त ( गुणान् ) सत्वादि तीनों गुणोंको ( समतीत्य ) सम्यक् प्रकारसे अतिक्रमण करके ( ब्रह्मभूयाय ) ब्रह्मभाव अर्थात् मोक्षकेलिये ( कल्पते ) समर्थ होजाता है ॥
॥ २६ ॥

* भुवो भावो इति भवतेर्भावे क्यप् ।

**भावार्थः**— अब श्रीआनन्दकन्द गोकुलचन्द अपने परम भक्त अर्जुनके तीसरे प्रश्नका उत्तर देतेहुए अर्थात् गुणातीत होनेका उपाय बतातेहुए कहते हैं, कि [ **माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते** ] जो प्राणी गुणातीत होनेका प्रयत्न करनेवाला है वह इन गुणोंकी कुछ भी परवा न करताहुआ अर्थात् ये गुण आपसे आप वर्तमान हैं इनसे मेरी कुछ भी हानि नहीं है ऐसा समझताहुआ मुझ सर्वेश्वर वासुदेवको जो व्यभिचाररहित भक्तियोगसे सेवन करता है अर्थात् जिस भक्तिका वर्णन बारहवें अध्यायमें करतेहुए यों दिखला आये हैं, कि जो दिन रात अन्य सब आश्रयोंको त्याग सर्वतसे अपनी वृत्तियोंको हटा केवल एक सर्वेश्वर वासुदेवमें लगाता है अन्य किसी देव देवीको ध्यानमें नहीं लाता ऐसी भक्ति व्यभिचाररहित कहीजाती है। भगवान्‌के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो अन्य सर्व प्रकारके कर्म धर्मका तथा अपने किसी योग वा तपोबलका भरोसा त्याग करे केवल एक मेरी शरण होरहता है अपना परमपुरुषार्थ मुझ ही को जानता है तैलधाराके समान एक रस नित्य मेरे ही प्रेममें जिस का मन प्रवाह कररहा है ऐसे भक्तियोगसे जो मुझको भजता है [ **स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते** ] वही मेरा भक्त इन सत्व, रज और तम तीनों गुणोंकी प्रबलता जीतकर जैसे व्याघ्र बकरीके बच्चोंको दाबलेता है ऐसे इन गुणोंको इनकी सारी सेना सुख, दुःख, लोभ, मोह, प्रमादादि सहित दाबकर ब्रह्मभाव जो मोक्षपद तिसके प्राप्त करनेको समर्थ होजाता है अर्थात् गुणातीत होनेका यही एक मुख्य उपाय है, कि अहर्निश भगवत्‌के प्रेममें मग्न रहे और

भक्तियोगमें समयको व्यतीत करे । अन्य जो नाना प्रकारके हठयोग, राजयोग, मंत्रयोग, जपयोग, तपयोग इत्यादि योग हैं इनके करनेवाले कभी भूलकर इन गुणोंके धोखेमें फँसजावे तो सम्भव है पर भक्तियोग- वालेसे तो ये तीनों गुण ऐसे कांपते हैं, जैसे बिल्लीको देखकरे चूहे ।

इसी कारण गुणातीत होनेका उपाय केवल भक्तियोग है अन्य कुछ नहीं ॥ २६ ॥

इस भक्तियोगसे भगवत्‌की आराधना करताहुआ प्राणी गुणोंसे अतीत क्यों होजाता है तिसका कारण अगले श्लोकमें कहतेहुए भगवान् इस अध्यायको समाप्त करते हैं ।

**मू०—ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याऽव्ययस्य च ।**
**शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७**

**पदच्छेदः—** हि ( यस्मात् ) अमृतस्य ( विनाशरहितस्य । मोक्षस्य । कैवल्यस्य ) च, अव्ययस्य ( सर्वविकाररहितस्य ) च, शाश्वतस्य ( मोक्षाख्यशाश्वतफलहेतुत्वान्नित्यस्य ) धर्मस्य ( ज्ञानसंयुक्तभक्तिनिष्ठालक्षणधर्मप्राप्यस्य ) च, एकान्तिकस्य ( अव्यभिचारिणः । विषयरहितस्य ) सुखस्य ( परमानन्दस्य ) ब्रह्मणः ( परमात्मनः ) अहम् ( वासुदेवः ) प्रतिष्ठा ( पर्य्यवसा- नस्थानम् ) ॥ २७ ॥

**पदार्थः—** ( हि ) क्योंकि ( अमृतस्य ) विनाश रहित- कैवल्यरूप ( च ) फिर ( अव्ययस्य ) वृद्धिह्रासरहित निर्विकार-

रूप ( च ) फिर ( शाश्वतस्य ) नित्य सनातन ( धर्मस्य ) धर्म-स्वरूप ( च ) फिर ( एकान्तिकस्य ) विषयरहित अव्यभिचारी ( सुखस्य ) सुखस्वरूप ( ब्रह्मणः ) ब्रह्मका ( अहम ) मैं ही ( प्रतिष्ठा ) अर्थात् वास्तविकस्वरूप हूं क्योंकि इन सब गुणोंका निवासस्थान मैं ही हूं इसलिये मेरा सेवन करनेवाला गुणातीत होकर मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

भावार्थः— पहले जो उक्त श्लोकोंमें भगवान् कहआये हैं, कि मेरी अनन्यभक्ति करनेवाला गुणातीत होकर ब्रह्मभावको प्राप्त होता है । अब तिसका मुख्य कारण बताते हुए कहते हैं, कि [ **ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्** ] उस पूर्णपरब्रह्मके भिन्न-भिन्न भावोंकी × प्रतिष्ठा मैं ही हूं अर्थात् निवास करनेका स्थान हूं । जिस ब्रह्मके विषय सर्वत्र ब्रह्मासे लेकर पाताल लोक पर्य्यन्त हल-चल मचारहा है । तात्पर्य यह है, कि जिसके रूपमें ब्रह्मादि देव भी समाधि लगाये बैठे हैं, जिसके लिये ऋषि, मुनि, तपस्वी वनमें जा वर्षा, आतप, बात सहन करते हैं, नाना प्रकारके स्वादु अन्नोंको परित्याग कर केवल वारि और बयार तथा सूखी पत्तियां और घासका आहारकर समय बिताते हैं, जिसके लिये बहुतेरे पुरुष नाना प्रकारके यज्ञोंका सम्पादन करते रहते हैं, जिसकेलिये योगीजन अष्टांग-योगका साधन कर समाधि तक पहुंचते हैं जिसके लिये कृच्छ्र, पाद,

× प्रतिष्ठा = प्रतितिष्ठन्तीति प्रति+स्था+ आतश्चोपसर्गे ३ । ३ । १०६ स्थानम् स्थितिः Residence. Situation. Position

चान्द्रायण तथा मौनव्रतका अनुष्ठान करते हैं, जिसके लिये बहुतेरे नरेश राजसुखका परित्यागकर बनमें जा नाना प्रकारके दुःखोंको झेलते हैं, जिसके लिये दानी अपना सर्वस्व दान करते हैं, जिसके लिये काशीमें जा अपना प्राण संकल्प करदेते हैं, जिसके लिये ग्रीष्म ऋतुमें पंचाग्नि तापते हैं, हिम ऋतुमें जलशयन साधन करते हैं, जिसकेलिये प्रह्लाद ऐसे भक्त शूलीपर चढजाते हैं, जिसके द्वारा बारम्बार इस संपूर्ण विश्वकी उत्पत्ति, पालन तथा संहार होते रहते हैं, जिसके भयसे सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि सब ही थर-थर कांपते रहते हैं, जिसकी आज्ञामें प्रकृति सदा हाथ बांधें खडी रहती है, जिसकी स्तुति शेष सहस्रमुखसे नित्य गान करते रहते हैं, जिसके लिये चारों वेद नेति-नेति कहकरे पुकाररहे हैं, जो ब्रह्म ' **तत्वमसि** ' वेदवाक्य में तत्पदका वाच्य है ऐसा जो सर्वत्र व्यापक सच्चिदानन्द घन ब्रह्म है तिसके मुख्य २ ऐश्वर्योंकी प्रतिष्ठा मैं ही हूं ।

भगवानके कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि जैसे सूर्यकी किरणें सिमटकरे जब सूर्यकान्तमणिमें इकट्ठी होजाती हैं तब उससे साकार आग निकल पडती है । अथवा जैसे इक्षुदंडके रसके सिमटकर एक स्थानपर निकल पडनेसे रूपान्तर होते-होते मिसरी वा कन्द वा ओला बनजाता है अथवा जैसे वायुकी भिन्न-भिन्न शक्तियां एक ठौर सिमटकर शरीरमें प्रतिष्ठित हो प्राण बनजाती हैं अथवा जैसे आकाश में जो व्यापक जल देख नहीं पडतां वह जब एक स्थानमें स्थिर होजाता है तो श्यामघन होजाता है इसी प्रकार उस पूर्ण परब्रह्म जगदीश्वरके जितने महत्व हैं सब एक ठौर सिमटकर प्रतिष्ठित हो

श्रीआनन्दकेन्द कृष्णचन्द्रके स्वरूपमें स्थित हैं। इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि " ब्रह्मणोऽहि प्रतिष्ठाऽहम " मैं उस पूर्णपरब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूं अर्थात् निवासस्थान हूं।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि उस ब्रह्मके असंख्य गुण हैं जिसकी प्रतिमा साक्षात श्यामसुन्दर स्वयं रथपर खडे अर्जुनसे बातें कररहे हैं पर इनमें भी वे कौन-कौनसे विशेष गुण हैं ? जिनकी एक जमावट साक्षात् इस वासुदेवस्वरूपमें है सो भगवान् स्वयं अपने मुखारविन्दसे कहते हैं [ **अमृतस्याऽव्ययस्य च । शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च** ] अर्थात् **अमृतस्य, अव्ययस्य, शाश्वतस्य, धर्मस्य एकान्तिकस्य, सुखस्य** इन पांचों विशेष गुणों का एक स्वरूप साक्षात् मैं ही हूं । जैसे घृत, शक्कर, मूंग, बादामकी गिरी और चौघडे इलायचीको एकठौर मिलाकर मोतीचूर का लड्डू बनाते हैं ऐसे मानों श्यामसुन्दरका स्वरूप अमृतमय मोतीचूरका लड्डू है जो भक्तोंके हृदयरूप जिह्वाको परम स्वादका प्रदान करनेवाला है अथवा भगवान्के स्वरूपको पंचमेल मिष्टान्नका रूप भी कहलो तौ भी उत्तम है ।

अब वे पांचों गुण कैसे हैं उनका विलग-विलग वर्णन किया जाता है ।

१. **अमृतस्य**— उस ब्रह्मदेवका स्वरूप जो अमृत है अर्थात अमृतका पान करनेसे जैसे प्राणी अमर होकर विनाश रहित होजाता है उसे फिर जन्म मरणका भय कभी नहीं होता ऐसे जो

प्राणी ब्रह्मभावको प्राप्त होता है सो अमृतस्वरूप होजाता है क्योंकि वह ब्रह्म स्वयं अमृतस्वरूप है विनाशरहित है तहां श्रुतियां भी उसे बारम्बार अमृत कहकर पुकारती हैं—

( १ ) " ॐ तदेतत्सत्यं यदमृतं तद्वोद्धव्यं सोम्य विद्धि " ( मुं० २ खं० २ श्रु० २ )

( २ ) " ॐ ब्रह्मैवेदममृतम् " ( मुं० २ खं० २ श्रु० ११ )

( ३ ) " ॐ स एवोऽकलोऽमृतो भवति " ( प्रश्नो० प्रश्न ६ श्रु० ५ )

( ४ ) "ॐ यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः " ( बृह० अ० ३ श्रु० २२ )

( ५ ) " ॐ अथामृतोऽयमात्मा " ( मैत्र्यु० श्रु० २ )

( ६ ) " ॐ तदमृतं हिरण्मयम् " ( तैति० ब० १ श्रु० १३ )

( ७ ) " स मृत्युं तरति सोऽमृतत्वं च गच्छति " ( नृसिंहता० तृतीय ब० श्रु० १ )

---

अर्थ— १. सो यह सत्य है सो अमृत है जो जानने योग्य वा मनसे वेध करने योग्य है हे सोम्य ! उसे ऐसा जान !

२. यह ब्रह्म अमृत है।

३. जो इसको जानता है वह भी दिव्य और अमृत होजाता है।

४. जो विज्ञानके भीतर निवास करताहुआ विज्ञानको भी अपनी आज्ञामें रखता है वही आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है।

५. ऐसे प्राणीका आत्मा अमृत होजाता है।

६. ऐसा प्राणी अमृत है और हिरण्यरूप है।

७. सो मृत्युको तरजाता है और अमृतत्वको प्राप्त होता है अर्थात् अमर होजाता है

एवम्प्रकार अनेकानेक श्रुतियां उस ब्रह्मको अमृत तथा उसके ध्यान करनेवालोंको भी अमृतके नामसे कथन करती हैं इसी कारण उस ब्रह्मका नाम मृत्युमृत्यु भी है । प्रमाण श्रु०— " ॐ कस्मादुच्यते मृत्युमृत्यु यस्मात् स्वमहिम्ना स्वभक्तानां स्मृत एव मृत्युमपमृत्युञ्च मारयति " ( नृसिंहता० द्विती० उ० श्रु० ४ )

अर्थ– उस महाप्रभु श्रीसच्चिदानन्दको मृत्युमृत्यु क्यों कहते हैं तहां उत्तर यह है, कि वह अपनी महिमासे अपने भक्तोंको अपने स्मरणमात्रसे उनकी मृत्यु और अपमृत्युको मारडालता है इसीलिये उसको मृत्युमृत्यु कहते हैं ।

सो इस श्लोकमें **अमृतस्य** शब्दके प्रयोगसे भगवानका यह तात्पर्य है, कि उस ब्रह्ममें जो अमृतत्व है वह एक ठौर सिमटकर मेरे इस वासुदेवस्वरूपमें प्रतिष्ठित है ।

२. **अव्यय**– उसे कहते हैं, कि " **नास्ति व्ययो यस्य** " जिसका व्यय अर्थात् घटना बढ़ना कभी भी न होवे सदा एकरस वर्तमान रहे देश, काल, स्थान, किसी भेदसे भी जिसके स्वरूपमें अदल बदल न होवे सो यह गुण केवल उसी ब्रह्मदेवमें है उससे इतर जितने हैं सबोंका कालादि किसी न किसी भेदसे व्यय होता ही रहता है इस कारण वही महाप्रभु अव्यय है, आदि और अन्तसे रहित, सर्वविकारशून्य है । तहां श्रुतियां भी उसे अव्यय कहकर पुकारती हैं " * ॐ अव्यया

* जो अव्यय अर्थात् सर्वविकारोंसे रहित है; अव्यय अर्थात् अजरअमर फलका देनेवाला है तथा मोक्षका देनेवाला है । ( छां० )

अव्ययफलदा मोक्षदा" (छान्दो०)" + ॐ अशब्दमस्पर्शमरूपम-व्ययम्" (कठो०) " ÷ ॐ यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा" (मु०)

इन श्रुतियोंने उस परब्रह्मको अव्यय अर्थात् षड्विकाररहित कह कर पुकारा है। पहली श्रुतियों द्वारा वह अमृत कहागया है और अब इन श्रुतियों द्वारा वह अव्यय कहाजाता है। इन दोनोंमें यद्यपि स्थूलदृष्टिद्वारा देखनेसे कुछ अन्तर नहीं देखपडता क्योंकि अव्यय में जो छै विकारोंसे शून्यता है उसके अन्तर्गत एक विकार 'विनश्यति' नाश होना भी है सो अमृतत्व भी उसीको कहते हैं जो नाश न हो पर संभव है जो वस्तु नाशमान नहीं है उसमें किसी प्रकारका दूषण हो और दूषण सहित अमर हो। इसी दूषणके हटानेके तात्पर्यसे भगवानने इस श्लोकमें 'अमृतस्य' के साथ 'अव्ययस्य' शब्दका प्रयोग किया है अर्थात् वह ब्रह्मदेव सब दूषणोंसे रहित है फिर अमर है।

३. शाश्वतस्य— शाश्वत कहिये नित्यको जो तीनों कालोंमें एकरस है, जिसका कभी अभाव नहीं होता क्योंकि वह अनादि और अनन्त है इसलिये नित्य है। प्रमाण श्रुतिः— " ॐ अतो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः " (कठो० अ० १ बल्ली २ श्रुति १८)

अर्थ— यह नित्य है, शाश्वत है, पुराण है यहां नित्य और शाश्वत कहकर उस ब्रह्म वा आत्माकी नित्यताको अधिक दृढ कर-

+ जो शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित और अव्यय है अर्थात् षड्विकारोंसे रहित है। (कठो०)

÷ अमृत है सो पुरुष निश्चय करके अव्यय है। (मुंड०)

दिया । सो शाश्वतत्व अर्थात् नित्यत्व सब ओरसे सिमटकर वासुदेव-स्वरूपमें प्रतिष्ठित है ।

४. धर्मस्य— भगवान्के कहनेका तात्पर्य यह है, कि इस शरीर के संघात द्वारा अर्थात् दशों इन्द्रियां और चारों अन्तःकरणोंके द्वारा जो लौकिक वैदिक धर्मोंका अनुष्ठान है सो अनुष्ठान संचित होकर भागवतधर्म कहाजाता है सो धर्म भी हे अर्जुन ! मुझमें प्रतिष्ठित है इसलिये धर्मकी प्रतिष्ठा भी मैं ही हूं ।

अब उक्त भगवद्वचनको श्रुतिसे भी सिद्ध करते हैं । प्रमाण श्रु०— "ॐ अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु" ( बृह० अ० २ ब्राह्म० ५ श्रु० ११ ) अर्थ— यह धर्म सामान्यरूपसे इस सृष्टिमें विचारपूर्वक गुरु और शास्त्रोंके वचनानुसार साधन करनेसे सब प्राणियोंका 'मधुरूप' कहाजाता है अर्थात् जैसे मधु सर्वप्रकारके पुष्पोंका सार है। इसी प्रकार सामान्यरूपसे यह धर्म सब भूतोंका मधु अर्थात् मधुर, स्वादु और कल्याणकारक है। जब यह श्रुति सामान्यधर्मको मधु कहकर पुकारती है तो ज्ञानसंयुक्त जो भगवद्भक्ति धर्म है उसके मधुत्व अर्थात् मधुरताके विषय तो कहना ही क्या है । सो भगवान् कहते हैं, कि यह धर्मरूप मधु भी मुझमें प्रतिष्ठित है अर्थात् इस धर्मकी प्रतिमा भी मैं ही हूं ।

५. एकान्तिकस्य सुखस्य— अब भगवान कहते हैं, कि जो एकान्तिकसुख है उसकी भी प्रतिष्ठा अर्थात् निवासस्थान मुझ ही में है तात्पर्य यह है, कि व्यभिचारसे रहित जो एकान्तिकसुख जिसे ब्रह्मसुखके नामसे भी पुकारते हैं सो सारा ब्रह्मसुख मानों एक ठौर सिमटकर प्रतिमा

होकर मेरा स्वरूप होगया है। जो प्राणी मेरे इस स्वरूपकी उपासना करता है वह गुणातीत होकर सर्वविकाररहित निर्मल सुखोंको लाभ करता है।

भगवानने जो इस श्लोकमें अमृत, अव्यय, शाश्वत, धर्म और सुख ब्रह्मके इन पांचों गुणोंको एक संग मिलाकर अपने इस पञ्चामृतकी प्रतिष्ठा बतलायी है सो सांगोपांग उचित ही है क्योंकि वे सच्चिदानन्द आनन्दकन्द पूर्णब्रह्मकी साक्षात् प्रतिमा ही हैं जो रथके ऊपर अर्जुनके सम्मुख उसके कल्याणार्थ रथवान् बनेहुए खडे हैं।

यह अर्जुनके तीसरे प्रश्न अर्थात् गुणातीत होनेका उत्तर श्रीगोलोकविहारीने संक्षिप्तरूपसे देकर इस अध्यायकी समाप्ति करदी ॥ २७ ॥

प्रिय पाठको ! अब यहां सारी कलई खुलगयी जो निराकारवादी इस गीताशास्त्रके माननेवाले हैं वे यदि केवल निराकार ब्रह्मका ही डंका बजातेहुए तीनों लोकोंमें फिरें और साकारकी ओर दृष्टि न देवें तो उनसे यों कहना चाहिये, कि यदि तुम श्रीमद्भगवद्गीताके माननेवाले हो तो इस श्लोकको ध्यानदेकर पढो बारहवें अध्यायमें तो भगवानने अर्जुनके पूछनेपर सामान्यरीतिसे यों कहदिया, कि " मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ताः " ( अ० १२ श्लो० २ ) अर्थात् जो प्राणी अपने मनको मेरे स्वरूपमें प्रवेशकरके नित्ययुक्त होकर मेरे साकारस्वरूपकी उपासना करते हैं वे मेरे जानते श्रेष्ठ हैं। एवम्प्रकार " **मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय** " ( अ० १२ श्लोक ८ ) " **मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः** " ( अ० ११ श्लोक ५५ ) इत्यादि।

फिर " ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् " उस ब्रह्मको जिसे निराकार-वादी निराकार कहकर अमर, अव्यय, शाश्वत, धर्मस्वरूप तथा सुख-स्वरूप बताते हैं तिसकी प्रतिष्ठा मैं ही हूं अर्थात् इस मेरे साकारस्व-रूपमें उस निराकारके सर्वगुण सिमटकर एक ठौर जमगये हैं इसलिये मुझको ही उस ब्रह्मकी प्रतिष्ठा ( निवासस्थान ) जानकर मेरी सेवा-पूजा करता हुआ गुणातीत होजा !

यदि अपना कल्याण चाहते हो तो इस मनमोहनरूपसे मित्रता करलो ! अवसर मत चूको ! आयु पक्षीके समान पल-पल उडी जारही है, चेतो ! मिथ्या समय वाद-विवादमें मत गंवाओ मनुष्य शरीर बार २ नहीं मिलनेका ॥

नमस्त्रिभुवनोत्पत्तिस्थितिसंहारहेतवे ।
विष्णवेऽपारसंसारपारोत्तरणसेतवे ॥ १ ॥
आदिमध्यान्तरहितं दशाहीनं पुरातनम् ।
अद्वितीयमहं वन्दे मद्वस्त्रसदृशं हरिम् ॥ २ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीस्वामिहंसस्वरूपेण विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतायां हंसनादिन्याख्यटीकायां गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ।

महाभारते भीष्मपर्वणि तु अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥

# शुद्धाशुद्धपत्रम् ।
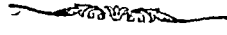
| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठम् | पंक्ति |
|---|---|---|---|
| पं | पें | ३०४७ | ५ |
| र्व्व | र्द्ध | ३०४६ | १ |
| स्था | स्थाएं | ३०७२ | १० |
| इः | इ ! | ३०८४ | ११ |
| जो | जी | ३०८७ | १५ |
| का | की | ३०६४ | २० |
| वन्हि | वह्नि | २१२८ | २ |
| स्पर्शै | स्पर्शैं | ३१४३ | १२ |
| शेष | शेश | ३१४६ | ६ |